बड़ों का बचपन

बचपन के दिन... जीवन के सबसे सुनहरे दिन। धींगा-मस्ती, खेल-कूद, बहानेबाज़ी तो कभी लड़ाई-झगड़े। बेफिक्री से भरे इन दिनों की स्मृतियाँ हमेशा ज़ेहन में ताज़ा रहती हैं। कभी-न-कभी किस्सों के रूप में बचपन की घटनाओं का ज़िक्र निकल ही आता है। कोई व्यक्ति कितना भी बड़ा क्यों न हो जाए, उसका बचपन उसके लिए हमेशा अनमोल ही रहता है। ऐसी ही चुनिन्दा शख्सियतों के बचपन की धूप-छाँव से भरी ज़िन्दगी को बयाँ करती है यह किताब - *बड़ों का बचपन*। यह किताब दुनिया के तमाम बच्चों को समर्पित है जिनकी मुट्ठी में सम्भावनाओं का अनन्त आकाश है।

एकलव्य

मूल्य: ₹ 90.00

A0138H

ISBN: 978-81-89976-62-0

9 788189 976620

parag SRTT के वित्तीय सहयोग से विकसित

उषा जाफा रूसी
पद्मश्री शीला रेनसांगी
राजा रवि वर्मा
रवीन्द्रनाथ टैगोर
मल्लिका गोयली
महात्मा गांधी
हरिवंश राय बच्चन
हरदेव बालसुब्रह्मण्यम
रामानुजन
बाली रेपसीमा
मीनाक्षी अग्रवाल
माखी रे. पा.
रामधारी सिंह 'दिनकर'
राहुल द्रविड़
पाण्डुरंग सदाशिव साने
गुरुजी
नाना पाटेकर
रामधारी सिंह 'दिनकर'
लाल बहादुर शास्त्री
अब्दुल कलाम
मनोज
विनय प्रभाकर
हिन्दी की पहली पीढ़ी
ए. पी. जे. अब्दुल कलाम
मनोज
सुकमोहन सिंह
तसलीमा नसरीन

बड़ों का बचपन

संजीव ठाकुर

एकलव्य का प्रकाशन

बड़ों का बचपन

संजीव ठाकुर

एकलव्य का प्रकाशन

बड़ों का बचपन
BADON KA BACHPAN
संजीव ठाकुर
चित्रांकनः दिलीप चिंचालकर
आवरणः जितेन्द्र ठाकुर

© संजीव ठाकुर व एकलव्य / दिसम्बर 2010
इस किताब की पाठ्य सामग्री का गैर-व्यावसायिक शैक्षिक उद्देश्यों के लिए इसी प्रकार के कॉपीलेफ्ट चिह्न के तहत उपयोग किया जा सकता है। स्रोत के रूप में इस किताब का ज़िक्र अवश्य करें तथा एकलव्य को सूचित करें। किसी भी अन्य प्रकार के उपयोग की अनुमति के लिए एकलव्य के ज़रिए लेखक से सम्पर्क करें।

दिसम्बर 2010 / 2000 प्रतियाँ
कागज़ः 80 gsm नेचुरल शेड व 300 gsm आर्ट कार्ड (कवर)
पराग इनिशिएटिव, सर रतन टाटा ट्रस्ट, मुम्बई के वित्तीय सहयोग से विकसित

ISBN: 978-81-89976-62-0
मूल्यः ₹ 90.00

सम्पर्कः **एकलव्य**
ई-10, शंकर नगर बी.डी.ए. कॉलोनी,
शिवाजी नगर, भोपाल - 462 016 (मध्य प्रदेश)
फोनः 0755 - 255 0976, 267 1017
फैक्सः 0755 - 255 1108
www.eklavya.in
ईमेलः (सम्पादकीय) books@eklavya.in
(किताबें मँगवाने के लिए) pitara@eklavya.in

मुद्रकः आदर्श प्राइवेट लिमिटेड, भोपाल, फोनः 0755 - 255 0291

विषय सूची

दो शब्द 6

ज्यां जाक रूसो
सबसे अमूल्य चीज़ थी स्वतंत्रता 8

फकीर मोहन सेनापति
अपनी कमअक्ली को याद कर मैं हँस पड़ा 13

राजा रवि वर्मा
दीवार पर बनाया पहला चित्र 20

रवीन्द्रनाथ ठाकुर
कविता के लिए शान्तिनिकेतन से बेहतर कोई जगह नहीं थी 25

मक्सिम गोर्की
और मैं जीवन की राहों पर निकल पड़ा 31

मोहनदास करमचन्द गाँधी
मैंने भी की थी चोरी 37

शरत्चन्द्र
संसार-कोश की बात झूठी निकली 43

राजेन्द्र प्रसाद
भाई से सीखा स्वदेशी का पाठ 49

दत्तात्रेय कालेलकर
उसी क्षण मैंने प्रतिज्ञा की 55

रामानुजन
यही मेरी पढ़ाई थी और खेल भी 62

चार्ली चैपलिन
स्टेज पर वह माँ की आखिरी रात थी 65

भीमराव अम्बेडकर
मैं माँ के सपने पूरे करना चाहता था 70

माओ त्से-तुंग
कम उम्र में पढ़ ली थीं विद्रोह की कहानियाँ 74

रामप्रसाद 'बिस्मिल'
बचपन की मार से शरीर बना सहनशील 79

ज़ाकिर हुसैन
मैं शरारती नहीं था 85

पाण्डुरंग सदाशिव साने
मेरी सफलता को देखने के लिए माँ नहीं थीं 89

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'
मैं रो तो रहा था भाई के डर से... 94

जय प्रकाश नारायण
सरस्वती-भवन से आई राष्ट्रीयता की भावना 100

रामवृक्ष बेनीपुरी
मेरी शैतानी को काव्य का महत्व मिल गया था 103

लाल बहादुर शास्त्री
माली ने मुझे समझाया 109

अशोक कुमार
मैं बहुत ऊधमी था 116

मलका पुखराज
महाराज ने मेरी तारीफ की 121

विष्णु प्रभाकर
मुझे विश्वास ही नहीं हो रहा था 136

इन्दिरा गाँधी
उस गुड़िया के बिना 142

ए. के. हंगल
पिताजी ने दिखाए बहुत से नाटक 150

अमृता प्रीतम
उसी गिलास में पिया दूध 154

ए.पी.जे. अब्दुल कलाम
उन्होंने मुझे अपनी रसोई में बैठाकर खिलाया 158

बृजमोहन मिश्र
गीत गाकर बचता था गणित से 163

तसलीमा नसरीन
एक दिन अचानक मैंने कविता लिखी 166

परिचय 174

दो शब्द

बचपन क्या है?

'चिन्तारहित खेलना-खाना और फिरना निर्भय स्वच्छन्द!'

मनुष्य के जीवन का सबसे सुनहला अध्याय शायद बचपन ही होता है। आगे का जीवन कुछ करने, कुछ कर सकने के लिहाज़ से भले ही महत्वपूर्ण हो, लेकिन कुछ करने की चिन्ता से दूर एक भरा-पूरा जीवन जीने के लिहाज़ से बचपन का कोई जवाब नहीं है। शायद इसीलिए बड़े हो जाने के बावजूद लोग अपने बचपन के दिन भूल नहीं पाते और बार-बार अपने बचपन में लौटते हैं और वहाँ से कोई न कोई संस्मरण उठा लाते हैं। उन संस्मरणों को सुन-पढ़कर लगता है कि आगे चलकर कोई कितना भी बड़ा हो जाए, उसका बचपन धींगा-मस्ती, खेल-कूद, लड़ाई-झगड़े और बहानेबाज़ी से मुक्त नहीं होता। बड़े से बड़े विद्वान को बचपन में पढ़ाई और स्कूल से भागते देखा जा सकता है तो महान से महान व्यक्ति को बचपन में चोरी करते। अपने बच्चों पर नियम-कानून और अनुशासन का शिकंजा कसने वाले अभिभावक अगर इस बात पर ध्यान दें तो बच्चों को उनका बचपन वापस मिल सकता है। दूसरी ओर, महात्मा गाँधी को बीड़ी पीते या चोरी करते और गोर्की, बिस्मिल, कलाम वगैरह को पिटते देख बच्चों के मन से वह कुण्ठा भी निकल सकती है जो छोटी-मोटी गलतियाँ करने और उसके परिणामस्वरूप दण्डित होने के कारण जन्म लेती है। इस किताब को तैयार करते वक्त यही भावना मूल रूप से काम करती रही है। अलग-अलग देशों और अलग-अलग क्षेत्रों से आने वाले इन बड़े लोगों के बचपन के प्रसंगों को पढ़कर बच्चे और बड़े समान रूप से लाभान्वित हो सकते हैं।

इस किताब को तैयार करने में ढेर सारी आत्मकथाओं, जीवनियों और संस्मरणों की पुस्तकों को खँगाला गया है। उनका आभार! लिखने के लिए आत्मकथा शैली ('मैं' शैली) अपनाई गई है। इसके पीछे उद्देश्य यह है कि इन बड़ों की कहानी उन्हीं की ज़ुबानी सुनने का बोध हो। पुस्तक में आए लोगों का क्रम उनकी जन्मतिथि के हिसाब से निर्धारित किया गया है।

बहुत से लोगों की तरह मेरा भी मानना है कि बच्चों की मुट्ठी में सम्भावनाओं का अनन्त आकाश बन्द होता है। इसीलिए मैं यह किताब दुनिया के तमाम बच्चों को समर्पित करता हूँ।

संजीव ठाकुर

ज्यां जाक रूसो

सबसे अमूल्य चीज़ थी स्वतंत्रता

मेरा जन्म जेनेवा में 1712 ईसवी में हुआ। मेरे पिता आइज़ैक रूसो घड़ीसाज़ थे। मेरी माँ सुज़न बर्नार्ड प्रोटेस्टेंट पादरी बर्नार्ड की बेटी थीं। मेरे जन्म के कुछ दिन बाद ही मेरी माँ की मृत्यु हो गई थी। मैं भी जन्म से बीमार था। मेरी देखभाल मेरी बुआ ने की; उनका नाम भी सुज़न था।

पाँच-छह साल तक की ज़्यादा स्मृतियाँ मेरे पास नहीं हैं। मुझे यह भी याद नहीं कि मैंने पढ़ना कैसे सीखा। बस मुझे यह याद है कि मैं माँ के छोड़े उपन्यास बचपन में ही पढ़ गया था। पिताजी भी उन उपन्यासों को पढ़ा करते थे। हम रात भर किताबें पढ़ा करते। कई बार पढ़ते-पढ़ते सुबह हो जाती थी। माँ की किताबें खत्म होने के बाद संयोग से हमें उनके पिता की किताबों का खज़ाना मिल गया। मैंने ढेर सारी किताबें उनकी लाइब्रेरी से पढ़ीं। किताबों के अध्ययन और उन पर पिताजी से चर्चा के कारण शुरू से ही मैं स्वतंत्रता-प्रेमी हो गया।

माँ की मृत्यु के बाद पिताजी मेरा खूब ख्याल रखते थे। मुझे अतिरिक्त लाड़-प्यार मिलता था। मुझसे सात साल बड़ा मेरा भाई इस लाड़ से वंचित था। सम्भवतः इसीलिए उसका ध्यान पढ़ाई में भी नहीं लगता था और वह तरह-तरह की मुसीबतें खड़ी करता रहता था। वह गलत आदतों का शिकार भी हो गया था। पिताजी उसे अक्सर दण्डित करते थे। एक बार पिटाई के वक्त उसे बचाने को मैं बीच में कूद पड़ा। पिताजी ने उसे मारना बन्द कर दिया। लेकिन मेरा भाई काफी बिगड़ चुका था। एक दिन वह घर

से भाग ही गया। वह फिर लौटकर नहीं आया। उसने चिट्ठी-विट्ठी भी नहीं लिखी। हमें कुछ समय बाद पता चला कि वह जर्मनी में है।

बचपन में मैं भी शरारतें करता था। कभी-कभी झूठ भी बोलता था। अधिक खाने की आदत के कारण मैं खाने की चीज़ें चुरा भी लिया करता था। लेकिन मैं किसी दूसरे को परेशान करने में विश्वास नहीं रखता था। मैं पशु-पक्षियों को भी नुकसान नहीं पहुँचाता था। हाँ, एक बार पड़ोसन मादाम क्लॉट के साथ की गई शरारत मुझे अभी तक याद है। मैंने उनके खाना पकाने के बरतन में पेशाब कर दिया था। इस घटना को याद कर मुझे हँसी भी आती है और अपराधबोध भी होता है।

मेरी परवरिश इस तरह से हुई थी कि मेरे बिगड़ने की अधिक सम्भावना नहीं थी। सभी मेरा ध्यान रखते थे। मैं भी अपना ज़्यादातर समय पढ़ाई में लगाता था। मेरा घूमने-फिरने में भी मन लगता था। इसके अलावा अपना समय मैं अपनी बुआ के साथ गुज़ारता था। बुआ हँसमुख स्वभाव की थीं। मैं उनके पास रहता और उनकी कसीदाकारी देखता या उन्हें गाते हुए सुनता रहता। संगीत के प्रति मेरी रुचि में उसी गायन का योगदान है।

मेरे पिता को जेनेवा से निष्कासित कर दिया गया था। एक फ्रांसीसी फौजी से उनका झगड़ा हो गया था। उसकी सज़ा के रूप में उन्हें जेल भी हो सकती थी। पिताजी ने अपने स्वाभिमान और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए जेनेवा से निष्कासित होना ही पसन्द किया था। पिताजी के जेनेवा से जाने के बाद मैं अपने मामा बर्नार्ड के यहाँ रहने लगा। मामा के एक बेटा था जिससे मेरी दोस्ती हो गई। हम दोनों को पढ़ने के लिए बॉसी नामक गाँव भेजा गया। बॉसी में पढ़ते हुए मुझे शिक्षा से ही अरुचि होने लगी। मैं पढ़ने-लिखने से ज़्यादा खेल-कूद में आनन्द लेने लगा।

बॉसी की एक घटना मुझे अब तक याद है। एक बार रसोई से सटे अपने कमरे में मैं पढ़ाई कर रहा था। नौकरानी कुछ कंघियाँ रसोई में सूखने को रख गई थी। जब वह उन्हें लेने आई तो कंघियों के कई दाँत टूटे हुए थे।

दोष मेरे ऊपर ही मढ़ दिया गया। मैं अपनी सफाई देता रहा लेकिन मुझ पर विश्वास नहीं किया गया।

उन्हीं दिनों मेरे ममेरे भाई पर भी ऐसा ही कोई गम्भीर आरोप लगाया गया था। हम दोनों को एक साथ दण्ड दिया गया था। रात में एक ही बिस्तर पर लेटे हुए हम एक-दूसरे का दुख महसूस कर रहे थे। कुछ देर में उठकर हम चिल्लाने लगे, "जल्लाद! जल्लाद! जल्लाद!"

बॉसी से वापस आकर जेनेवा में मैं अपने मामा के यहाँ ही दो-तीन वर्षों तक रहा। हालाँकि वह उम्र हमारे भविष्य के बारे में फैसला लेने की नहीं थी लेकिन चर्चा चलती थी कि मुझे घड़ीसाज़ ही बनना चाहिए। घड़ीसाज़ नहीं तो एटॉर्नी या फिर पादरी। मुझे पादरी बनना ज़्यादा पसन्द था क्योंकि वे उपदेश देते थे।

मेरे पास इतनी सम्पत्ति नहीं थी कि आगे की पढ़ाई के बारे में सोचता, इसलिए ममेरे भाई के साथ ही चित्रकला और ज्यामिति पढ़ने लगा। मामा अपने बेटे को इंजीनियर बनाना चाहते थे। मेरी रुचि चित्रकला में अधिक थी।

मेरे मामा अपने आप में मगन रहने वाले व्यक्ति थे। वे हम पर कम ही ध्यान दे पाते थे। मामी भी एक संन्यासिन की तरह रहती थीं। ज़्यादा समय भजन-कीर्तन में ही बिताती थीं। इस तरह हम लोग करीब-करीब स्वतंत्र थे। इस स्वतंत्रता का फायदा उठाकर हम हमेशा कुछ नया करते रहते थे। हम कभी पिंजरे बनाते, कभी बाँसुरी, कभी ढोल तो कभी शटल।

रद्दी कागज़ों से खिलौने बनाना भी हमें पसन्द था। एक बार कठपुतली का नाच देखकर हमने भी कठपुतलियाँ बना डालीं और हास्य गीतों की धुन पर उन्हें नचाने लगे। हमने अपने परिवारवालों के लिए कठपुतली के कार्यक्रम भी रखे। एक दिन बर्नार्ड मामा को परिवार के बीच प्रवचन करते सुनकर हमें भी प्रवचन देने का शौक चर्राया था। हम दोनों भाई अपनी दुनिया में ही मगन रहते थे। बाहर की गतिविधियों में हमें कोई दिलचस्पी नहीं थी। हम दोनों को हमेशा साथ देखकर लड़के हमें चिढ़ाते भी थे। हम उनसे लड़ पड़ते थे और कभी-कभी पिट भी जाते थे।

आखिर मेरे लिए भविष्य चुनने का वक्त आया और बहुत ही सोच-विचार के बाद तय किया गया कि मैं वकालत की पढ़ाई करूँ। इस पेशे में मेरी रुचि सबसे कम थी लेकिन फिर भी मुझे वकालत के एक अच्छे प्रशिक्षक श्री मेसरॉन के पास जाना पड़ा। एक तो इस पेशे से अरुचि, दूसरा मेसरॉन का व्यवहार – मुझे परेशानी होती। मेसरॉन मुझे 'बेवकूफ' और 'निकम्मा' कहते। अन्त में एक दिन उन्होंने मुझे अपने ऑफिस से निकाल ही दिया।

इसके बाद मुझे एक नक्काश के पास भेजा गया। मेरा नया उस्ताद भी बहुत क्रूर था। उसने थोड़े समय में ही मेरे बचपन की जीवन्तता नष्ट कर दी। एक बार मैं अपने साथियों के साथ कुछ तमगे बना रहा था। मेरे उस्ताद ने देख लिया और मुझ पर यह आरोप लगाया कि मैं नकली सिक्के बना रहा था। मेरे उस्ताद के व्यवहार ने मुझमें कई दुर्गुण डाल दिए। अब मैं झूठ बोलने लगा, काम से जी चुराने लगा और चोरी भी करने लगा।

यहाँ कई बार मुझे खाना अधूरा छोड़कर ही उठ जाना पड़ता था। मुँह खोलने की आज़ादी नहीं थी। हमेशा अपने काम में लगे रहना पड़ता था। मेरी सारी स्वतंत्रता यहाँ छिन गई थी।

मुझे चोरी का पाठ भी मेरे उस्ताद ने ही सिखाया था। पास के बाग से फल चुराकर बेचना और पैसे उस्ताद को देना भी मेरा एक काम हो गया था। उस्ताद उन पैसों से खाता-पीता और मौज करता था। धीरे-धीरे मैंने उस्ताद के घर से बढ़िया खाना चुराना शुरू कर दिया। इस चोरी में कभी-कभी पकड़ा भी जाता था, लेकिन अधिकांशतः मैं बच निकलता था। पकड़े जाने पर पिटाई भी होती थी। आगे चलकर इस पिटाई से भी कोई फर्क नहीं पड़ता था, मैं और सफाई से चोरी करने लगा था।

मैं कभी-कभी उस्ताद के निजी कमरे में भी घुस जाता था। उस कमरे में रुपए-पैसे, सोना-चाँदी भी रखे रहते थे, लेकिन मैं उनकी चोरी नहीं करता था। मैं तो उन औज़ारों पर हाथ साफ करता था जो मुझसे छुपाकर रखे जाते थे। उन्हें चुराकर मैं खुद को बहुत शक्तिशाली समझता था। उस्ताद को उन चीज़ों से वंचित कर मुझे खुशी होती थी।

धीरे-धीरे मैं इस काम से उकता गया। मेरी पढ़ने की रुचि फिर से जग पड़ी थी। किताबें पढ़ने के लिए मैंने नए तरह की चोरी शुरू की – समय की चोरी। उस्ताद के दिए काम के बीच मैं किताबें पढ़ता रहता। यहाँ तक कि मैं गली में खड़े-खड़े पढ़ने लगता, अलमारी में घुसकर पढ़ने लगता। ये किताबें मुझे ला त्रिबु नाम की एक महिला से मिलतीं। कई बार ये किताबें मेरे उस्ताद द्वारा पकड़ ली जातीं, फाड़ दी जातीं। किताबों का दाम चुकाने में मेरी साप्ताहिक पॉकेट-मनी तो चली ही जाती, कभी-कभी मेरी कमीज़, टाई या कोई दूसरी चीज़ भी चली जाती। ला त्रिबु किताबें उधार भी दे देतीं। पैसे आने पर मैं ईमानदारी से उन्हें चुका देता। साल भर में ही मैंने ला त्रिबु का पूरा संग्रह पढ़ डाला। अच्छी-बुरी सभी किताबें मैं पढ़ गया।

इसी तरह मैं सोलहवें साल में प्रवेश कर गया। मैं बेचैन रहने लगा। इस जीवन से मैं मुक्ति चाहता था, इसलिए मैंने अपने ममेरे भाई बर्नार्ड की मदद से शहर छोड़ दिया। आगे भूख, अभाव, खतरे, तकलीफें खूब आने वाली थीं, लेकिन मैं निकल पड़ा। स्वतंत्रता मेरे लिए सबसे अमूल्य चीज़ थी।

❖

फकीर मोहन सेनापति

अपनी कमअक्ली को याद कर मैं हँस पड़ा

मेरे दादाजी के दादाजी हनुमल्ल बरसों पहले बालेश्वर आए थे। वे मराठा सेनापति के अधीन सैनिक होकर आए थे। उनका काम पठान सेना को रोकना था। इसके लिए उन्हें पैंतालीस बीघा ज़मीन मिली थी। उन्हें मराठों ने 'सेनापति' की पदवी दी थी। उनके वंशज योग्य नहीं थे, फिर भी वे उस पदवी को अपने नाम के साथ जोड़ते आ रहे हैं। आगे चलकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डर से मेरी दादी ने अपनी ज़मीन खो दी थी। हुआ यह था कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की फौज के डर से गाँववाले जान बचाने की धुन में अपनी सारी चीज़ें छोड़कर जंगल को भाग गए। कम्पनी बहादुर ने अभय की घोषणा की थी तो वे वापस अपने-अपने घर लौटे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सबको अपनी ज़मीन पर रहने का हक दे दिया। लेकिन दादी इतना डरी हुई थीं कि उन्होंने अपना दावा पेश ही नहीं किया। जब सिपाही उन्हें ढूँढते हुए आए तो उन्होंने समझा मराठों के पक्ष में रहने के कारण कचहरी बुलाकर उन्हें मारा जाएगा। इसलिए अपने दो छोटे-छोटे बच्चों को घर के अन्दर चटाई से ढँककर भीतर से ही उन्होंने कह दिया, "इस घर में कोई मर्द नहीं है, हमें ज़मीन नहीं चाहिए।"

मेरा जन्म इसी बालेश्वर के मल्लीकाशपुर में सन् 1843 की जनवरी में हुआ। मेरी माता का नाम तुलसीदेई और पिताजी का नाम लक्ष्मण चरण सेनापति था। मैं जब एक साल पाँच महीने का था तब पिताजी की मृत्यु हो गई। वे जगन्नाथ जी की रथ-यात्रा देखने पुरी गए हुए थे। लौटते समय

भुवनेश्वर में उन्हें हैज़ा हो गया। ठाकुर माँ यानी दादी भी उनके साथ थीं। गाँव में यह खबर आते ही सब लोग रोने लगे। पिताजी का एक पालतू कुत्ता था। वह भी चिल्लाने लगा। लोग धीरे-धीरे शान्त हो गए पर वो नहीं हुआ। पिताजी जहाँ-जहाँ जाते थे वहाँ-वहाँ जाकर वह सूँघ आता। आठ दिन बाद वह भी बिना खाए-पिए मर गया।

पिताजी की मृत्यु के बाद माताजी ने खाट पकड़ ली। चौदह महीने बीमार रहकर वे भी चल बसीं। माता-पिता की मृत्यु के बाद मेरी दादी ने मुझे गोद में उठा लिया। उन्होंने यह कहावत सिद्ध की: पालती तो बाप की माँ या माँ की माँ। जब मेरा जन्म हुआ तभी मेरे बाएँ कान के ऊपरी भाग में छेद करके सोने का एक छल्ला पहना दिया गया। मुझे बचाने के लिए यह टोटका किया गया था। लेकिन मैं सात-आठ साल तक बहुत बीमार रहा। ठाकुर माँ यानी दादी दिन-रात एक कर मेरी सेवा करतीं। मेरे बिस्तर के पास बैठकर सभी देवी-देवताओं से मेरे प्राणों की भिक्षा माँगतीं। वे पीरों की शरण में भी गईं। उनके पास मन्नत माँगी, "मेरा लड़का अच्छा हो जाए तो मैं उसे आप लोगों का फकीर या गुलाम बना दूँगी।" तभी से मेरा नाम फकीर हो गया, नहीं तो नाम था ब्रजमोहन।

बीमारी से मैं ठीक हो गया लेकिन ठाकुर माँ मेरा मोह नहीं छोड़ पाईं और मुझे पीरों के पास नहीं भेज सकीं। बस मुहर्रम के समय आठ दिन के लिए मुझे फकीर बना देतीं। मैं उन दिनों फकीरों जैसे वस्त्र पहनता – घुटनों तक का अँगिया, कई रंगों का चपकन, सिर पर फकीरी टोपी। कई रंगों की झोली और हाथ में लाख की छड़ी लेकर चेहरे पर सफेदी पोतकर सुबह-शाम गाँव में भीख माँगता और शाम को भीख में मिले चावल बेचकर पैसे पीरों की शीरीनी के लिए दे आता।

मैं नौ साल का था जब पढ़ाई के लिए पाठशाला गया। शहर के बीच ही बड़ी बस्ती में पाठशाला थी। सम्पन्न घरों में स्वतंत्र रूप से अध्यापक रहते थे। पाठशाला में नियम-कानून कड़ाई से लागू होते थे। कोई गैर-कानूनी काम नहीं होता था। कानून तोड़ने वालों को दण्ड दिया जाता था। अध्यापक से पूछे बगैर उठना-बैठना तक मना था। एक जगह बैठे-बैठे

अगर पैर में दर्द होने लगता या झनझनाहट होने लगती तो अपनी जगह बैठकर ही अध्यापक से पूछना पड़ता, 'मास्टरजी, एक!' यानी पेशाब करने जाऊँगा। 'मास्टरजी, दो!' यानी टट्टी जाना है। 'मास्टरजी, पाँच!' यानी पानी पीने जाना है।

पाठशाला में दण्ड की कई विधियाँ प्रचलित थीं। सबसे पहली – बेंत की मार। दूसरी – एक पैर पर खड़े रहना। तीसरी – एक हाथ से नाक और दूसरे से सिर के बाल पकड़कर खड़े रहना। चौथी – घुटने के बल बैठकर बायाँ हाथ सिर पर रखकर, दाईं हथेली पर चॉक रखकर हाथ आगे बढ़ाए बैठे रहना। पाँचवीं – ताड़-पत्ते के रेशे से बनी रस्सी कन्धे पर डालकर दोनों पैरों की उँगलियों में बाँधना।

छुट्टी के समय 'शून्य चाटी' देने की भी व्यवस्था थी। छात्रों के स्कूल आने का क्रम मास्टरजी और बड़े छात्र याद रखते थे। जो छात्र सबसे पहले स्कूल आया होता था उसकी हथेली पर बेंत को छुआ-भर दिया जाता था। इसे 'शून्य चाटी' कहते थे। देर से आए छात्रों पर बेंत का प्रहार क्रमशः बढ़ता जाता था।

अगर कोई छात्र 'शून्य चाटी' के डर से पाठशाला नहीं आता था और अपने घर की रसोई में घुसकर बैठ जाता था तो उसी की जाति के चार लड़के नंगे होकर उसकी रसोई में घुस जाते थे और उसे अपराधी की तरह पाठशाला में ला पटकते थे। मास्टरजी उसकी पीठ पर प्रहार शुरू कर देते थे।

मैं इसी पाठशाला में पढ़ता था। पढ़ाई के बाद अन्य छात्र चले जाते थे। मुझे वहीं रुककर मास्टरजी की सेवा करनी पड़ती थी। जब महीने के अन्त में मास्टरजी तनख्वाह माँगने घर आते तो मेरे निष्ठुर चाचा उनसे कहते, "आप तो फकीरे को पढ़ाते तक नहीं। तनख्वाह माँगने कैसे आ जाते हैं?"

मास्टरजी जवाब देते, "मैं तो इसे हमेशा अपने पास ही रखता हूँ। एक पल को खेलने भी नहीं छोड़ता।" चाचाजी कहते, "लेकिन इसकी पीठ पर एक भी निशान दिखाई नहीं देता।"

तब अकारण मास्टरजी मेरी पीठ पर दस-बारह बेंत बरसा जाते। मेरी चीख

सुनकर चाचाजी और चाचीजी खुश हो जाते मगर ठाकुर माँ दौड़ती हुई आतीं और मास्टरजी पर गुस्सातीं, "मास्टरजी, तुम्हारे बाल-बच्चे नहीं हैं जो बेरहमी से बच्चे को मार रहे हो?" हर महीने तनख्वाह के समय यही नाटक दोहराया जाता।

कुछ दिन बाद मैं गाँव के एक मठ की पाठशाला में भर्ती हो गया। मठ के मास्टरजी के लिए हमें 'भिक्षा' माँगनी पड़ती। उसी चावल से मास्टरजी के अन्न की व्यवस्था हो जाती। चावल ज़्यादा होने पर उसे बेचकर मास्टरजी पैसे जमा करते।

उन दिनों बालेश्वर में पाल से चलने वाले जहाज़ों का कारोबार खूब होता था। अलग-अलग तरह के जहाज़ों के लिए अलग-अलग तरह के पाल बनाए जाते थे। मेरे चाचाजी पाल बनवाते थे। सैंकड़ों दर्ज़ी हमारे घर पर काम करते थे। मुझे चाचाजी ने यह काम सौंप दिया कि मैं नदी किनारे जाकर यह पता लगाऊँ कि किस जहाज़ के लिए कौन सा काम है? मैं यह लिखकर लाता। समय बचता तो वे मुझे पाल की सिलाई के काम में लगा देते। बालेश्वर में जहाज़ का काम कार्तिक से लेकर चैत तक चलता था। बाकी छह महीना काम बन्द रहता था। जहाज़ का काम बन्द होने पर चाचाजी मुझे पास ही के दूसरे गाँव में रहने वाले बाबू विश्वनाथ दास के पास छोड़ गए।

वे कचहरी जाते थे। मैं भी उनके साथ जाने लगा। लेकिन मुझे कचहरी में घूमना-फिरना अच्छा नहीं लगता था तो किसी से पूछे बगैर मैंने अपना नाम बाराबाटी बंगोत्कल विद्यालय में लिखवा लिया। स्कूल में सिर्फ एक कपड़ा पहनकर जाने की मनाही थी। कन्धे पर चादर डालकर जाना पड़ता था। मैंने ठाकुर माँ को यह बात बताई तो उन्होंने टसर की एक धोती और एक चादर का इन्तज़ाम कर दिया।

उस समय मेरे चचेरे भाई नित्यानन्द अच्छा जोड़ा और साटन या मखमल की कमीज़ पहनकर स्कूल जाते थे। ठाकुर माँ के बहुत कहने पर चाचाजी कुछ महीनों बाद मेरे लिए एक नया जोड़ा खरीद लाए। स्कूल का शुल्क चार आना था जो देना मुश्किल होता था। पण्डितजी माँगते तो मैं आज,

कल कहकर टालता रहता। ठाकुर माँ रुपए जुटाने के मामले में उदासीन रहती थीं। उनके हाथ कभी-कभार रुपया-पैसा आता तो उसे छाजन में खोंस देतीं या पिछवाड़े मिट्टी के नीचे दबा देतीं। कोई ज़रूरत पड़ जाती तो तुरन्त निकाल देतीं। घर-बाहर सबकी सेवा में वे लगी रहतीं।

उस समय ओड़िया भाषा में *वर्ण बोधक*, *नीति कथा* और *हितोपदेश* किताबें ही छपी थीं। हम वही पढ़ते थे। हमारे स्कूल के ओड़िया पण्डितजी इसके अलावा जोड़, घटा, गुणा, भाग, क्रय-विक्रय आदि गणित के पाठ भी पढ़ाते थे।

पण्डितजी हमेशा कहते कि उनके जोड़ का कोई पण्डित बालेश्वर ज़िले में नहीं है। वे कहते कि उन्हें 'लीलावती सूत्र' भी ज्ञात है। 'लीलावती सूत्र' जानने वाले पेड़ के पत्ते और उड़ते पक्षियों को गिनकर बता सकते थे, यह कहा जाता था। मैं 'लीलावती सूत्र' सीखने को बैचेन हो गया था। काफी भक्ति और उपासना करने पर पण्डितजी मुझे 'लीलावती सूत्र' सिखाने को तैयार हुए। उन्होंने मुझे अपने घर पर आने को कहा। उनका घर हमारे घर से कोई दो मील दूर था। गर्मियों के दिन थे। स्कूल से आकर जैसे-तैसे भात खाकर धूप में ही मैं उनके घर चल पड़ता। न पैरों में जूते होते, न सिर पर छाता होता। पण्डितजी घर पर सोए होते। मैं उनके बरामदे में बैठा रहता। तीन या चार बजे उनकी नींद टूटती। वे पानी मिला भात खाकर ताड़ के पत्ते का छाता और लाठी लेकर अपने खेत की ओर निकल पड़ते। मैं उनके पीछे-पीछे चल पड़ता। फिर से आधा मील पैदल चलना पड़ता। मज़दूरों का काम देखकर वे किसी मेड़ पर बैठकर मुझसे पूछते, "लीलावती सूत्र सीखोगे? लिखो...लिखो!"

मैं पेड़ के नीचे बैठ जाता। वे एक लाख से बड़ी संख्या वाली राशि बोलकर और उसी तरह की संख्या से गुणा कराते और एक संख्या उससे घटाने को कहते। फिर कोई दूसरी संख्या बोल उसे जोड़ने को कहते। इसी तरह जोड़-घटाव करते-करते साँझ हो जाती, अँधेरा छाने लगता। मैं घर लौट आता। इस तरह का गुणा-जोड़ महीने भर तक चलता रहा। मैं रोज़ उत्साह में भरकर जाता और निराश होकर लौट आता। पण्डितजी भी मुझे

गुणा-घटाव कराते-कराते ऊब गए थे। अब वे गुस्सा भी करने लगे। अन्त में मैंने उनके घर जाना ही छोड़ दिया। इस घटना के कई साल बाद हिन्दी में छपे एक 'लीलावती सूत्र' को मँगाकर पढ़ने से पता चला कि बिना गिनती के पेड़ के पत्ते गिनना असम्भव है। अपनी कमअक्ली को याद कर मैं हँस पड़ा।

स्कूल में एक बंगाली पण्डितजी थे जो बांग्ला की पुस्तकें पढ़ाते थे। वर्ष के अन्त में परीक्षा हुई तो छात्र गलत जवाब देने लगे। सभी की गलतियाँ समान थीं। परीक्षक समझ गए कि पण्डितजी ने ही उन्हें गलत सिखाया है। परीक्षा के कुछ दिन बाद पण्डितजी चले गए। एक दूसरे पण्डितजी आए जो योग्य थे। उनके पढ़ाने का ढंग भी बहुत अच्छा था।

आगे की पढ़ाई के लिए जो नई किताबें बनीं उन्हें खरीदने के लिए मेरे पास पैसे नहीं थे। मैं तो समझ रहा था कि अब आगे नहीं पढ़ पाऊँगा लेकिन ईश्वर ने उस समय एक दूसरा रास्ता निकाल दिया। पिछली परीक्षा में मैं प्रथम श्रेणी में प्रथम आया। पुरस्कार के रूप में मुझे सारी किताबें दी गईं। मैं फिर से स्कूल में पढ़ने लगा। परीक्षा में पास होना और पुरस्कार पाना मेरे लिए अनोखी बातें थीं। मैं और मन लगाकर पढ़ने लगा। सुबह से शाम तक पढ़ाई में लगा रहता। रात में पढ़ने का उपाय नहीं था। भाई नित्यानन्द बत्ती जलाकर पढ़ते, मुझे पास बैठने नहीं देते। अलग से बत्ती जलाना चाहूँ तो चाची नाराज़ हो जाती थीं। इसी तरह छह महीने पढ़ता रहा। फीस के पैसे थे नहीं सो पढ़ाई बन्द होने लगी। ठाकुर माँ कहतीं, "पढ़ने से क्या होगा रे! किसी तरह ज़िन्दा रह!"

आखिर मेरी पढ़ाई तो बन्द हो ही गई। मैं घर पर चुपचाप बैठा था। पर उसी स्कूल के मंत्री बाबू शिवचन्द्र सोम ने एक दिन मुझे बुलावा भेजा और मुझे उसी स्कूल में शिक्षक बना दिया। तनख्वाह महीने में ढाई रुपए। ठाकुर माँ खुश हो गईं। बोलीं, "तू अब कमाने लगा है, अब बच जाएगा।" उन्होंने और अधिक कमाने का आशीर्वाद दिया जो जल्द ही पूरा हो गया। नौकरी मिलने के तीसरे महीने से मुझे चार रुपए महीने के मिलने लगे। उस समय मेरी उम्र कोई चौदह-पन्द्रह साल की होगी।

❖

राजा रवि वर्मा

दीवार पर बनाया पहला चित्र

अठारहवीं शताब्दी में त्रावणकोर राज्य की रानी के प्राण बचाने के बदले राजा ने केरल वर्मा को किलिमानूर और उसके आसपास की ज़मीन पुरस्कार में दे दी थी। इन्हीं केरल वर्मा के वंश में आगे चलकर राजा राज वर्मा हुए, जो मेरे मामा थे। राजा राज वर्मा की बहन उमा अम्बा बाई मेरी माँ थीं। मामा को ललित कलाओं से बहुत प्यार था। वे स्वयं एक अच्छे चित्रकार थे। कथकलि भी जानते थे। मेरी माँ को भी संगीत की अच्छी जानकारी थी। मेरे पिता नीलकान्तन भट्टातिरिपद वेदों के जानकार, संस्कृत के पण्डित थे। मेरा जन्म इन्हीं माता-पिता के यहाँ किलिमानूर में ही 29 अप्रैल 1848 को हुआ था।

किलिमानूर का वातावरण धार्मिक और सांस्कृतिक था। पूजा-पाठ, वेदों का अध्ययन वहाँ की विशेषता थी। इसके साथ चित्रकला और कथकलि नृत्य का भी अच्छा प्रसार था। ऐसे ही वातावरण में मेरा लालन-पालन हुआ। मेरे पिता मुझे संस्कृत का विद्वान बनाना चाहते थे, लेकिन माँ मुझे बचपन से ही संगीत सिखाया करती थीं। पाँच वर्ष का होते-होते मैं संस्कृत और मलयालम तो सीख ही गया, छह वर्ष का होने पर मैंने गीत गाना भी शुरू कर दिया। लेकिन इनसे ज़्यादा मेरी रुचि चित्रकला में थी। मेरे मामा जब अपनी चित्रशाला में चित्र बनाया करते थे तो मैं उन्हें ध्यान से देखा करता था। मुझे आश्चर्य होता था कि मामा इतने सुन्दर चित्र कैसे बना लेते हैं। उनको देखते-देखते मैंने भी एक चित्र बना डाला। अपनी बहन से कोयले का टुकड़ा मँगवाकर मैंने मन्दिर की साफ दीवार पर घोड़े की

आकृति बना दी। आकृति बनाने के बाद एक नौकर आ गया था। उसने मेरी यह करतूत मामा को बता दी। लेकिन उस चित्र को देखकर मामा ने मुझे बिलकुल नहीं डाँटा बल्कि वे खुश ही हुए। मेरे बनाए घोड़े की वे तारीफ करने लगे। अब तो जैसे मुझे छूट मिल गई थी। मेरा जब भी मन करता मैं दीवार पर हाथी, घोड़े, फूल, पक्षी आदि के चित्र बना डालता। मैं जानवरों, पक्षियों को बड़े ध्यान से देखा करता था, उन्हें आकृति के ज़रिए उकेरने की कोशिश करता था। मेरी यह चित्रकारी नौकरों को अच्छी नहीं लगती थी। वे कभी मुझे झिड़क देते तो कभी मामा से शिकायत करने की धमकी देते। उस दिन मन्दिर की दीवार पर बने घोड़े की आकृति देखकर मामा ने यह निर्णय लिया था कि वे अपने भानजे को चित्रकारी सिखाएँगे। वे मुझे ही नहीं, अन्य बच्चों को भी चित्रकारी सिखाना चाहते थे। वे हमें अपनी रंगशाला में चित्रकला सिखाने लगे। चित्रकला से सम्बन्धित बुनियादी बातें भी वे बताते। मैं सब कुछ भूलकर उनकी बातें सुनता। धीरे-धीरे मैं चित्रों में रंग भरने की बातें, रंग बनाने की बातें सीखने लगा।

चित्रकला सिखाने के लिए मामा ने कुछ शर्तें रखीं, जैसे कि अब मैं किसी दीवार पर चित्र नहीं बनाऊँगा, पाठशाला में वेदों का अध्ययन करने जाऊँगा और रात में नृत्यशाला में नृत्य भी सीखूँगा। मैंने मामा की सभी शर्तें मान लीं।

एक दिन मामा मेरे बनाए हुए कुछ चित्र लेकर माँ के पास गए और बोले, "उमा, तुम्हारा बेटा एक दिन बड़ा चित्रकार बनेगा।" मेरे बनाए चित्र देखकर माँ बहुत खुश हुईं परन्तु पिताजी को मेरा चित्रकार बनना कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। मामा ने उन्हें समझाया कि चित्रकार बनना कोई बुरी बात नहीं है।

मैं तेरह साल का था कि एक दिन त्रावणकोर के राजा ने मामा को तिरुवनन्तपुरम् आने का सन्देश भेजा। राजा ने यह भी कहलवाया था कि घराने में कोई अच्छा लड़का हो तो उसे भी साथ लेते आएँ। मेरे मामा ने सोचा कि कोच्चू (मेरे बचपन का नाम) सुशील और सुशिक्षित है, उसे कला, संगीत और नृत्य का भी ज्ञान है, वह चित्रकार भी है, तो उसे ही साथ ले जाते हैं। बैलगाड़ी की यात्रा के दौरान मैं कल्पना में डूबा रहा। तिरुवनन्तपुरम् और त्रावणकोर के राजा के विषय में मैं लगातार सोचता रहा। मामा मुझे राजा के बारे में बताते भी रहे और वहाँ कैसे व्यवहार करना है, यह भी सिखाते रहे।

तिरुवनन्तपुरम् में हमारे ठहरने की अच्छी व्यवस्था थी। दूसरे दिन हम लोग राजा से मिलने गए। राजप्रासाद और वहाँ की सजावट देखकर मैं अचम्भित रह गया। राजा का व्यक्तित्व मुझे और अधिक आकर्षक लगा। राजमहल के पास का मन्दिर भी मुझे बहुत पसन्द आया। चार दिन तक मैं इधर-उधर देखता रहा। किलिमानूर लौटने से पहले मामा महाराज से मिलने गए। महाराज ने मामा का सत्कार किया और कहा, "हमें खेद है राजा राज वर्मा कि यह सम्बन्ध नहीं जुड़ पाएगा। मुझे तो आपका भानजा बहुत पसन्द आया लेकिन स्त्रियों ने केवल उसका रंग ही देखा। साँवला होने की वजह से वे विवाह सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहतीं।"

मामा ने कहा, "विवाह की कोई बात नहीं महाराज! इस बालक पर आपकी

कृपा चाहिए। आप बस इसे अपनी छत्रछाया में रहने दें। वह यहाँ रहकर अपनी प्रतिभा निखार पाएगा।"

महाराज ने शीघ्र ही सूचना भिजवाने की बात कहकर हमें विदा किया। किलिमानूर आकर मैं बहुत खुश हुआ। यहाँ की प्रकृति से मुझे प्यार था। यहाँ आकर अपने मित्रों को तिरुवनन्तपुरम् के किस्से सुनाए।

कुछ ही समय बाद महाराज का बुलावा आ गया। हम लोग फिर तिरुवनन्तपुरम् को रवाना हुए। मैंने अपने साथ अपने तीन चित्र राजा को भेंट करने को ले लिए थे। महाराज ने उन चित्रों की सराहना की। उन्होंने मामाजी को आश्वस्त किया, "आपका भानजा मेरे संरक्षण में है। मेरे राज चित्रकार इसे चित्रकला की शिक्षा देंगे। हमारे ग्रन्थालय में चित्रकला पर बहुत-सी पुस्तकें हैं। उनका लाभ भी इसे मिलेगा।"

किलिमानूर लौटने से पहले मामा ने मुझे काफी बातें सिखाईं। क्षण-क्षण का उपयोग करने की शिक्षा दी। मामा के जाने के बाद मुझे उदासी ने घेर लिया। इधर-उधर घूमकर, कभी तालाब की सीढ़ियों पर बैठकर मैं अपना मन बहलाने की कोशिश करता। फिर अपना लक्ष्य याद आता तो उदासी दूर हो जाती।

महाराज ने अपने राज चित्रकार रामस्वामी नायकर को मेरा गुरु बना दिया। कुछ समय बाद मुझे महसूस हुआ कि रामस्वामी मुझे कुछ सिखाना नहीं चाहते हैं। इसके विपरीत वे बात-बात पर मेरी गलती निकालते और झिड़की देते। मैं रंग बनाना न सीख लूँ इसलिए वे रंग घर से बनाकर ही लाते। रामस्वामी की इस बात को मैं उस समय नहीं समझ पाता था। लेकिन महाराज तो पारखी थे, वे सब समझ गए। उन्होंने रामस्वामी को समझाया लेकिन इसका कोई लाभ नहीं हुआ। तब महाराज ने मुझे रंग की पेटी मँगवाकर दी और कहा, "रवि! तुम्हें रंगों की कोई कमी नहीं होगी। जाओ, खूब चित्र बनाओ।" रंग पाकर मुझे प्रसन्नता हुई।

रामस्वामी के एक और शिष्य थे – आर्मुखम पिल्लई। उनसे मेरी मित्रता हो गई। वे मुझे ढाँढस बँधाते। चुपचाप रात को मेरी हवेली में आ जाते

और उन्हें जो कुछ आता, सिखाते। मैं अपनी जिज्ञासा आर्मुखम के सामने रखता और वह उसका उत्तर देते।

एक दिन महाराज ने मुझे महल में बुलाकर यूरोपीय चित्रकारों के कुछ चित्रों की अनुकृतियाँ दीं और कहा, "रवि, इन चित्रों का अध्ययन करो और अभ्यास करो।"

उन चित्रों को पाकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ। वे बहुत ही सुन्दर चित्र थे। वे चित्र एक तरह से मेरे गुरु हो गए। मैंने उन्हें ध्यान से देखा। मैंने संकल्प लिया कि "मैं भी ऐसे ही सुन्दर चित्र बनाऊँगा। कोई सिखाए या न सिखाए, मैं लगातार अभ्यास करूँगा। मैं गलती करूँगा। अपनी गलतियों से ही सीखूँगा।" अब रामस्वामी नायकर की उपेक्षा का कोई असर मुझ पर नहीं पड़ता था। फिर महाराज आयिल्लम तिरूनाल तो हर कदम पर मुझे प्रोत्साहित करने को खड़े ही थे!

❖

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कविता के लिए शान्तिनिकेतन से बेहतर कोई जगह नहीं थी

जब मैं बहुत छोटा था तो नौकरों के कमरे के पास 'नर्सरी' में रहा करता था। उन दिनों धनी परिवारों के लिए यह सामान्य बात थी। बच्चे अपनी माँ को रात में ही देख सकते थे या बीमार होने पर। पिता से उनकी मुलाकात और भी कम होती थी। नौकर ही उन्हें खिलाते-पिलाते थे, देखभाल करते थे, कहानियाँ भी सुनाते थे। एक ऐसा ही नौकर मेरे यहाँ था, जिसका नाम ब्रजेश्वर था। उसके केश और दाढ़ी भूरे रंग के थे। चेहरे की चमड़ी सूखी और तनी हुई। स्वभाव से वह गम्भीर था। सोच-समझकर बातें करता था। मैंने सुना था कि पहले वह गाँव के किसी स्कूल में पढ़ाया करता था। जात-पाँत के मामले में वह बहुत कठोर था। नहाने के लिए तालाब में जाता तो डुबकी लगाने से पहले पानी को पाँच-छह बार इधर-उधर हटाया करता था। नहाकर लौटते समय वह रास्ते पर इतनी सावधानी से चलता कि कोई छूत उसे न लग जाए।

खाने के मामले में वह बहुत लालची था। हम बच्चों की थाली में पूरा खाना कभी नहीं परोसता। दूर बैठकर पूरी हिलाता रहता और पूछता, "तुम्हें और चाहिए?" उसके पूछने का अन्दाज़ कुछ ऐसा होता कि मैं जवाब में "नहीं" ही कहता। एक बार ना कहने के बाद वह "हाँ" कहने का मौका कभी नहीं देता था। दूध के कटोरे भी उसे बहुत पसन्द थे। मुझे तो दूध पसन्द ही नहीं था।

इस तरह कम खाकर भी मैं कमज़ोर नहीं, ताकतवर ही था। मैं कभी बीमार भी नहीं पड़ा। सिर से पैर तक भीग जाने पर भी मैं बीमार नहीं पड़ा। पेट दर्द किसे कहते हैं, यह मैं नहीं जानता था। कभी स्कूल जाने का मन नहीं हो तो मैं पेट दर्द का बहाना किया करता था। मेरी माँ परेशान नहीं होती थीं। मुस्कुराकर कहती थीं, "स्कूल मत जाओ।"

कभी-कभी हरारत के कारण शरीर गर्म हो जाता तो डॉक्टर उपवास करने को कह देते। उपवास के बाद तीसरे दिन जब मछली का झोल और गीला भात मुझे मिलता तो वह देवताओं के खाने का पकवान जान पड़ता।

नौकर मुझे रामायण की कहानियाँ भी सुनाया करते थे। इन कहानियों के आधार पर हमें बाँधा भी करते थे। जब उन्हें अपने काम से बाहर जाना होता तो मुझे एक जंगलेदार खिड़की के पास बैठा देते और खड़िया से चारों ओर लकीर खींच देते। फिर कहते, "छोटे मालिक! इसके बाहर नहीं निकलना। तुम तो जानते ही हो कि लक्ष्मण की खींची रेखा से बाहर निकलने पर सीता मैया का क्या हाल हुआ था? भयानक राक्षस उन्हें पकड़कर ले गया था, याद है ना?"

मुझे घेरे में बन्द कर नौकर चले जाते। मैं खिड़की से बाहर छोटे-से तालाब और बड़े-से बरगद के पेड़ को देखता घण्टों बैठा रहता। वहीं से मैंने चीज़ों को ध्यान से देखना और उन्हें अपनी यादों में सँजोना सीखा।

थोड़ा बड़े होने पर मुझे नौकरों की देखभाल से अलग कर दिया गया। फिर अपने भाई-बहनों से मिलने-जुलने के मौके मिलने लगे।

मैं अपने पिता की चौदहवीं सन्तान हूँ। कई भतीजे और भानजे मुझसे बड़े थे। बड़ी बहन का लड़का सत्य और सोमेन्द्र मेरे रोज़ के साथी थे। सत्य मुझे एक बात के लिए डराता रहता था। वह कहता, "शान्तिनिकेतन कभी मत जाना।" मुझे आश्चर्य होता: "क्यों नहीं जाना? पिताजी वहाँ जाते हैं, वहाँ उनका मकान है।"

सत्य कहता, "लेकिन वहाँ का सफर बहुत खतरनाक है। वहाँ रेलगाड़ी से

जाना होता है और रेलगाड़ी तो मौत का फन्दा है। लोगों को इधर-उधर फेंकती है।"

मैं जब बड़ा हुआ तो मैंने अपनी ज़िन्दगी का ज़्यादातर हिस्सा शान्तिनिकेतन में ही बिताया। और पहली बार गाड़ी से यात्रा कर जब शान्तिनिकेतन गया तो रेल की यात्रा वैसी भयानक भी नहीं थी जैसी सत्य ने बताई थी।

मुझे पढ़ाने एक मास्टर आया करते थे। मैं तब आठ साल का था। एक बार बरसात का मौसम था। सड़कों पर पानी भर गया था। मैं चाह रहा था कि मास्टर न आ पाएँ। लेकिन मेरी तमाम उम्मीदों को मिट्टी में मिलाता हुआ सड़क के मोड़ पर उनका पैबन्द लगा काला छाता दीख ही पड़ा। अब कोई उपाय नहीं था। मुझे नींद भी आने लगी थी। अजीब बात यह थी कि उनके जाते ही मेरी आँखों से नींद गायब हो गई।

शुरू-शुरू में स्कूल जाने का मेरा बहुत मन करता था। सुबह सत्य और सोमेन्द्र को गाड़ी से स्कूल जाते देख मैं भी रोता-गिड़गिड़ाता। आखिर मुझे भी स्कूल भेजा गया। घर पर पढ़ाने वाले मास्टर बहुत नाराज़ हुए। उन्होंने मुझे एक थप्पड़ लगाते हुए कहा, "अभी तुम स्कूल जाने की ज़िद कर रहे हो? वह दिन जल्द ही आने वाला है जब तुम स्कूल न जाने के लिए रोओगे!"

और सचमुच वह दिन जल्दी ही आ गया। पहले ही दिन से मुझे स्कूल से नफरत हो गई। प्रकृति और खुले आकाश से दूर एक कमरे में बन्द होकर पढ़ना मुझे खराब लगता था। मैं स्कूल से छुट्टी के उपाय सोचता। जो मुंशीजी मेरे भाइयों को अरबी-फारसी पढ़ाते थे, उनसे छुट्टी के लिए क्लास-टीचर को अर्ज़ी लिखवाने की विनती करता। लेकिन इतना था कि स्कूल में विज्ञान और चित्रकारी में मुझे मज़ा आता था।

उन्हीं दिनों मैं कविता भी लिखने लगा। एक छोटी-सी नीली कॉपी में कविता लिखकर उसे जेब में लिए फिरता। सत्य और सोमेन्द्र ने वे कविताएँ पढ़ीं तो उन्हें आश्चर्य हुआ। फिर मेरे शिक्षकों ने भी वे कविताएँ

पढ़ीं और तारीफ की। यह बात पिताजी के पास भी पहुँच गई। उन्होंने वे कविताएँ देखीं और मुस्कुरा दिए।

स्कूल से अरुचि होने के बावजूद मेरी पढ़ाई बराबर चलती रही। घर पर भाषा, गणित, विज्ञान, चित्रकला सभी सिखाए जाते। शरीर को स्वस्थ बनाने पर भी ज़ोर दिया जाता। घर में संगीत के स्वर भी गूँजते रहते। कोई भालू नचाता, कोई साँप का खेल दिखलाता। कोई नाटक दिखाता, कोई बाज़ीगरी। कोई किसी से शर्त जीतने के लिए बीस सेर मांस खा लेता। यह सब देखकर हमें बहुत मज़ा आता।

हमें प्राचीन धर्मों, परम्पराओं, आदर्शों और रीति-रिवाज़ों का आदर करना सिखाया जाता। मुझे रामायण और महाभारत से तो लगाव हो ही चुका था, अब प्राचीन बांग्ला पुस्तकों को पढ़ने की रुचि जगी। वे किताबें सोने वाले कमरों में शीशे की अलमारियों में बन्द रहती थीं। उन्हें निकालने के लिए कभी-कभी चाची की साड़ी के छोर से बँधे चाबी के गुच्छों को चुराना भी पड़ता था। जब पिताजी यात्रा पर बाहर गए होते, मैं चुपचाप उनके कमरे में घुस जाता। उनकी कुर्सी पर बैठकर उनकी कोई किताब पढ़ने लगता।

जब मैं बारह वर्ष का था, मेरा उपनयन किया गया। केसरिया कपड़े पहनकर और सिर मुँड़ाकर कमरे में गायत्री का जाप करने में मुझे बहुत मज़ा आया। मैं सिर्फ इस बात से परेशान था कि मुँड़े सिर मैं स्कूल कैसे जाऊँगा? लेकिन इसकी नौबत ही नहीं आई। उत्सव समाप्त होने पर पिताजी ने मुझे बुलाया और पूछा, "तुम कुछ महीनों के लिए मेरे साथ यात्रा पर जाना पसन्द करोगे?"

घर से निकलकर यात्रा पर जाने से मुझे बहुत खुशी हो रही थी। मैं पिताजी के साथ पहले शान्तिनिकेतन गया। पिताजी के नज़दीक आने का यह पहला ही मौका था। पिताजी मुझे छोटे-मोटे काम करने को कहते। मैं उनकी घड़ी में चाबी देता। उनके खुदरे पैसों को सम्हालता। भिखारियों को भीख देता। छोटी-मोटी चीज़ें खरीदता और पैसों का हिसाब रखता।

वहीं मुझे यह पता चल गया कि कविताएँ लिखने के लिए शान्तिनिकेतन से बेहतर कोई जगह नहीं है। मैं बगीचे में नारियल के पेड़ के नीचे ज़मीन पर बैठ जाता, सामने अपने पैर फैला देता और लिखने लगता। मेरी नीली नोटबुक फट गई थी। अब मेरे पास पक्की जिल्दवाली एक नई नोटबुक आ गई थी।

कुछ दिनों के बाद हम लोग अमृतसर चले गए। वहाँ एक महीना ठहरे। पिताजी मुझे अँग्रेज़ी, बांग्ला, व्याकरण, संस्कृत और खगोल विज्ञान पढ़ाते। पिताजी सादा खाना खाते थे जो मुझे अच्छा लगता था। इस यात्रा में पिताजी का दूसरा ही रूप देखने को मिला। जोड़ासांको (अपने पुश्तैनी घर) में तो हम लोग इनसे डरते थे।

घर लौटकर मैं अपनी यात्रा के किस्से सबको सुनाया करता। माँ को मुझ पर बड़ा गर्व होता।

घर में मेरे भाई ज्योतिरिन्द्र और भाभी कादम्बरी देवी मुझे कविता से जुड़ने में मदद करते। माँ की मृत्यु के बाद बड़ी बहन सौदामिनी देवी मेरा ध्यान रखने लगीं। नाटक और संगीत के अलावा ज्योतिरिन्द्र की रुचि घुड़सवारी और तैराकी में भी थी। वे मुझे भी घुड़सवारी और तैराकी सिखाते। एक बार वे मेरे लिए किराए का एक टट्टू ले आए। मैं उस पर चढ़कर देहात की ओर निकल गया। मैं उस पर से सिर्फ इसलिए नहीं गिरा कि ज्योति दादा को भरोसा था कि मैं नहीं गिरूँगा।

ज्योति दादा नाटक लिखा करते थे। नाटक के लिए गीत मुझसे लिखवाते। नाटक के बीच जब वे गीत गाए जाते तो सबको आश्चर्य होता कि एक कम उम्र के लड़के ने यह गीत लिखा है।

मैं सोलह साल का हो गया था। मेरे भाई-बहन मेरे भविष्य को लेकर चिन्ता करने लगे थे। भाई सत्येन्द्रनाथ ने सुझाव दिया कि मुझे इंग्लैण्ड भेज दिया जाए। मुझे वहाँ मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास कर कानून की पढ़ाई करनी थी। इससे पहले चुस्त और आधुनिक बनने के ख्याल से मुझे अहमदाबाद में सत्येन्द्र दादा के पास रहना पड़ा। उनके पास अँग्रेज़ी की ढेरों किताबें

थीं। उन्हें पढ़कर मैं अँग्रेज़ी सीखता गया। फिर बम्बई में एक पारिवारिक मित्र के यहाँ अँग्रेज़ी तौर-तरीका सीखना पड़ा। अहमदाबाद और बम्बई में छह महीने रहने के बाद मेरे इंग्लैण्ड रवाना होने का वक्त आ गया। 20 सितम्बर 1878 की शाम पाँच बजे मैं पूना नाम के समुद्री जहाज़ से बम्बई से इंग्लैण्ड के लिए रवाना हुआ। डेक की रेलिंग के पास अकेला खड़ा मैं जेटी और जहाज़ के बीच का बढ़ता हुआ अन्तर देखता रहा। अचानक मुझे उदासी ने घेर लिया। मैं अपने पीछे भारत का किनारा ही नहीं, अपने बचपन को भी छोड़े जा रहा था। मैं फौरन डेक से हट गया और अपने केबिन में जाकर लेट गया।

❖

मक्सिम गोर्की

और मैं जीवन की राहों पर निकल पड़ा

मैं बहुत छोटा ही था जब मेरे पिता की मृत्यु हो गई थी। नानी उस समय आई थीं और मुझे और माँ को अपने साथ लेती गई थीं। बहुत कम समय में मैं नानी से हिल-मिल गया था। नानी मुझे किस्से-कहानियाँ सुनाती थीं। नानी के विपरीत नाना बड़े कड़े स्वभाव के थे। वे बच्चों को बुरी तरह पीटा करते थे। मामा के लड़कों के साथ वे मेरी भी 'मरम्मत' किया करते थे। नानी मुझे बचाने की कोशिश करतीं लेकिन अक्सर बचा नहीं पातीं।

एक बार की बात है मुझे रंगरेज़ी का शौक हुआ। नाना रंगरेज़ी का ही कारोबार करते थे। याकोव मामा के बेटे साशा ने मुझे समझाया कि अलमारी से सफेद मेज़पोश लेकर उसे बैंगनी रंग में रँगना ठीक रहेगा। मैंने वैसा ही कर डाला। नानी ने मुझे ऐसा करते देखा तो वे दुखी हो गईं। उन्होंने साशा को कुछ पैसे देकर कहा कि वह यह बात नाना को नहीं बताए। मगर साशा ने नाना को बता ही दी। नाना ने पहले तो चुगलखोरी के लिए साशा की मरम्मत की, फिर रंगरेज़ी करने के लिए मेरी! मैंने नाना की उँगली पर दाँतों से काट लिया, उनकी लाल दाढ़ी खींच ली। इस पर उन्हें और गुस्सा आया और उन्होंने मारते-मारते मुझे अधमरा कर दिया। मैं बीमार हो गया। बीमारी में नाना मुझे देखने आए, उपहार भी दिए, मगर ठीक होने पर उनकी पिटाई जारी रही।

जब नाना खुश हो जाते तो हँसी-मज़ाक भी करते थे। ऐसे ही एक दिन उन्होंने मुझे पढ़ाना शुरू कर दिया। वे मुझे वर्णमाला सिखाने लगे। पूरा

सीखने पर पाँच कोपेक का इनाम देने का वादा भी किया। कुछ ही दिनों में मैं अक्षर जोड़-जोड़कर बाइबिल के भजनों की पुस्तक पढ़ने लगा।

कुछ दिन बाद मेरा नाम स्कूल में लिखा दिया गया। साशा भी मेरे साथ स्कूल जाने लगा। स्कूल जाना मुझे अच्छा नहीं लगता था। साशा को खूब अच्छा लगता था। उसके बहुत से दोस्त हो गए थे। एक दिन साशा को स्कूल जाने का मन नहीं था। उस दिन स्कूल के रास्ते में अपनी किताबें उसने बर्फ में गाड़ दीं और कहीं चला गया। किसी ने उसकी किताबें बर्फ में से निकाल लीं। अगले दिन उसे स्कूल न जाने का बहाना मिल गया। जब नाना के आगे हमारी पेशी हुई तो साशा ने स्कूल न जाने के जो तर्क दिए वे मार खिलाने के लिए काफी थे। पहले तो उसने रास्ता भूल जाने की बात कही, फिर धूप भरे दिन में बर्फ की आँधी आने की बात। हम दोनों की कसकर पिटाई हुई। उस दिन के बाद एक आदमी हमें रोज़ स्कूल छोड़ने जाने लगा।

साशा और मैं अपने-अपने जीवन की योजनाएँ बनाते। साशा डाकू होना चाहता, मैं अफसर। हम दोनों ने यह भी तय किया कि डाकू और अफसर हो जाने पर हम दोनों एक-दूसरे को नुकसान नहीं पहुँचाएँगे।

इसी बीच मेरी माँ ने दूसरी शादी कर ली। मेरे प्रति सौतेले पिता का व्यवहार अच्छा नहीं था। वह माँ से भी झगड़ता रहता था। मुझे फिर से नाना के पास भेज दिया गया। कुछ दिन में माँ भी नाना के यहाँ आ गईं। लेकिन कुछ दिन यहाँ रहकर हम लोग सौतेले पिता के पास लौट गए। मैं फिर से स्कूल जाने लगा। पहले दिन स्कूल जाते हुए मेरा हुलिया अजीब था। मैंने पैरों में माँ के जूते पहन रखे थे, नानी के ब्लाउज़ को काटकर बनाया गया कोट, पीली कमीज़ और ढीली-ढाली पतलून। लड़के मुझे देखकर हँसने लगे। लड़कों ने पीली कमीज़ के कारण मेरा नाम "ईंट का इक्का" रख दिया। लड़कों को तो मैंने जल्दी ही ठीक कर दिया लेकिन पादरी और मास्टर मुझसे चिढ़े रहते थे। मास्टर मुझे बात-बात पर टोकते थे। मैं भी मास्टर से बदला लेने की सोचता रहता था।

एक बार मैंने दरवाज़े के ऊपर आधा तरबूज़ टाँग दिया। मास्टर जब आए

तब दरवाज़ा खोलने पर वह तरबूज़ टोपी की तरह उनके गंजे सिर पर गिर पड़ा। इस घटना के बाद दरबान मास्टर साहब की चिट्ठी के साथ मुझे घर ले गया। घर में मेरी खूब मरम्मत हुई। इसके बाद भी मेरी शरारत रुकी नहीं। एक दिन मैंने मास्टर की डेस्क की दराज़ में सुँघनी छिड़क दी। मास्टर साहब को ताबड़-तोड़ छींकें आने लगीं और वे क्लास छोड़कर भाग गए।

उधर पादरी मुझसे इस बात के लिए चिढ़ते थे कि मेरे पास *बाइबिल की पवित्र कथाएँ* किताब नहीं थी। एक दिन उन्होंने मुझे स्कूल से चले जाने को कहा। मुझे इससे भला क्या आपत्ति हो सकती थी?

क्लास में मुझे अच्छे अंक मिलते थे। लेकिन इसके बावजूद खराब आचरण के आधार पर मुझे स्कूल से निकाल दिया जाता। ऐसे में एक दिन बड़े पादरी स्कूल आए। वे बच्चों से तरह-तरह के सवाल करने लगे। मुझे उन्होंने भक्त अलेक्सी की कहानी सुनाने को कहा। मैंने कहानी सुना दी। उन्होंने मुझे शाबाशी दी। फिर कहा, "लोग तो कहते हैं कि तुम बहुत शरारती हो?" मैंने अपना अपराध स्वीकार कर लिया।

"तुम इतनी शरारत क्यों करते हो?" उन्होंने पूछा। मैंने कहा, "स्कूल में मेरा मन नहीं लगता है।"

मेरे अंक अच्छे थे इसलिए उन्हें मेरी बात पर विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने कहा, "ज़रूर कुछ और बात है!" फिर उन्होंने एक छोटी-सी किताब निकालकर मुझे दी। उस पर उन्होंने लिख दिया, "बेटा, ज़्यादा शरारत ठीक बात नहीं है। लोग उसे बर्दाश्त नहीं करेंगे।" बिशप ने सभी बच्चों से शरारत के बारे में पूछा। फिर उन्होंने कहा, "मैं भी तुम्हारी उम्र में शरारतें किया करता था।"

उनकी इस बात पर पूरी क्लास हँस पड़ी। मास्टर और पादरी भी हँस पड़े। बड़े पादरी के प्रभाव से स्कूल का वातावरण भी अच्छा हो गया था।

लेकिन घर पर मुझसे गलती हो गई। मैंने माँ का एक रूबल चुरा लिया। उससे *धर्म कथाएँ*, *रॉबिनसन क्रूसो* आदि किताबें खरीदी जा सकती थीं।

मुझे लड़कों से एंडरसन की परीकथाओं के बारे में भी जानकारी मिली थी। मैंने ये सब किताबें खरीद लीं। उनके साथ पावरोटी और सॉसेज भी। स्कूल में दोस्तों के साथ बैठकर *परियों की कहानी* की एक कहानी भी पढ़ी। घर वापस आते ही माँ ने एक रूबल के बारे में पूछा। मैंने स्वीकार कर लिया और किताबों के बारे में बता दिया। माँ ने मेरी पीठ पर तवा खींचकर मारा और *परियों की कहानी* पुस्तक छीन ली। वह पुस्तक फिर मुझे नहीं मिली। माँ मुझे खूब मारतीं तो भी मुझे दुख न होता, पर उस किताब के छिन जाने का मुझे बहुत दुख हुआ। मैं कई दिनों तक स्कूल नहीं गया।

इस बीच मेरे सौतेले पिता ने मेरी चोरी की बात दूसरों को बता दी और उनके माध्यम से यह बात स्कूल के बच्चों तक चली गई। मैं जब स्कूल गया, लड़के मुझे 'चोर-चोर' कहने लगे। घर आकर मैंने माँ से कह दिया कि अब मैं स्कूल नहीं जाऊँगा। माँ मुझे लेकर स्कूल गईं और मेरी सफाई दे दी। तब मैं स्कूल जाने लगा।

इस घटना के तुरन्त बाद ही मुझे फिर से नाना के यहाँ जाना पड़ गया। असल में माँ और सौतेले पिता के बीच झगड़े बढ़ गए थे। एक दिन पिता माँ को पीट रहे थे कि मैंने उन पर छुरी चला दी। माँ ने मुझे पकड़ लिया। मुझे फिर से नाना के यहाँ भेज दिया गया। यहाँ नाना-नानी भी अलग-अलग रह रहे थे। दोनों अपने-अपने लिए सामान खरीदते या बारी-बारी से कोई सामान खरीदते। मुझे यह देखकर घृणा होती थी।

ऐसे हालात में मुझे भी कुछ कमाने की ज़रूरत थी। मैं थोड़ा-बहुत कमाने भी लगा। रविवार को सबेरे बोरा लेकर शहर में निकल जाता और फटे कपड़े, लोहे की कीलें, पुरानी हड्डियाँ, रद्दी कागज़ वगैरह जमा करता। कबाड़ी की दुकान में उन्हें बेच आता। नानी इससे खुश होतीं, कहतीं, "अब हम दोनों भूखे नहीं मरेंगे।"

जल्द ही मुझे पता चला कि कबाड़ बेचने से ज़्यादा लाभ लकड़ी के पल्लों की चोरी करने में है। लड़कों की पूरी एक जमात थी जो यह काम करती थी। मैं भी उनमें शामिल हो गया। हमारी बस्ती में इस चोरी को कोई

अपराध नहीं समझा जाता था। लेकिन हम लोगों को इस चोरी से अच्छा कबाड़ी का काम ही लगता था। हम लोग वही करने लगे। इस काम में एक ही दिक्कत थी। स्कूल के लड़के हमें कबाड़ी कहते। उन्होंने मास्टर से जाकर यह भी कह दिया कि मेरे बदन से कचरे की बू आती है। मेरे साथ बैठना उन्हें अच्छा नहीं लगता। लड़कों की इस चुगली से मुझे बहुत चोट पहुँची क्योंकि उनकी यह शिकायत झूठी थी। मैं रोज़ स्कूल जाने से पहले हाथ-मुँह धोता था और कूड़ा ढोने वाले कपड़े बदल लिया करता था।

खैर, मैंने तीसरा दर्जा पास कर लिया। मुझे अच्छे नम्बर मिले थे। स्कूल से पुरस्कार में मुझे कुछ पुस्तकें भी मिलीं। एक प्रमाण पत्र भी मिला। पुरस्कार देखकर नाना बहुत खुश हुए। उन्होंने किताबों और प्रमाण पत्र को हिफाज़त से अपने सन्दूक में रख देने की बात कही। लेकिन एक दिन उनकी रोज़-रोज़ की शिकायत से तंग आकर मैंने अपनी किताबें बेच दीं। उनका कहना था कि मेरी वजह से वे लुटे जा रहे हैं, वे बिक जाएँगे। किताबें बेचने से मिले पचास कोपेक मैंने नानी के हवाले कर दिए। प्रमाण पत्र पर कलम चलाकर उसे खराब कर दिया।

कम ही दिन हुए थे कि सौतेले पिता की नौकरी छूट गई और वे कहीं बाहर चले गए। माँ फिर से नाना के घर आ गईं। उन्हें क्षय रोग हो गया था। वे भी ज़्यादा दिन नहीं रहीं। उनको दफनाने के कुछ दिन बाद नाना ने मुझसे कहा, "अब तुम्हारे लिए यहाँ कोई जगह नहीं है। अपनी दुनिया देखो और अपना ठौर-ठिकाना आप करो।"

मैं अपने जीवन की राहों पर निकल पड़ा। जूते की एक दुकान में नौकरी करने लगा। यहाँ भी हालात अच्छे नहीं थे। यहाँ से निकलकर मैं अपने एक रिश्तेदार के घर रहकर उनके काम करने लगा। वहाँ भी मुझे रोटी के लिए ताने दिए जाते थे। वहाँ से भागकर मैं जहाज़ पर बरतन माँजने का काम करने लगा। फिर देव प्रतिमा बनाने वाली चित्रशाला में काम सीखा। इस बीच मैं फिर से किताबें पढ़ने लगा था। कभी-कभी तुकबन्दी भी कर लेता था। पढ़ने की इच्छा लेकर मैं कज़ान जा पहुँचा। वहाँ एक विद्यार्थी ने मेरी बहुत मदद की। मैं एक गन्दी बस्ती में रहने लगा। बेकरी में काम करने लगा। बेकरी की हाड़-तोड़ मेहनत के बाद जब समय मिलता तो मैं लिखने-पढ़ने की कोशिश करता। इस बीच मैं राजनैतिक चेतना रखने वाले विद्यार्थियों के सम्पर्क में भी आ गया। बेकरी के मज़दूरों की समस्याओं को मैंने प्रत्यक्ष देखा। धीरे-धीरे मैं मार्क्सवादी साहित्य से भी परिचित हुआ। गरीबों, मज़दूरों और किसानों के प्रति मेरा लगाव बढ़ता गया। ❖

मोहनदास करमचन्द गाँधी

मैंने भी की थी चोरी

मेरे पूर्वज पंसारी का काम किया करते थे, लेकिन मेरे दादा श्री उत्तमचन्द गाँधी पोरबन्दर राज्य के दीवान हो गए थे। कुछ समय बाद दरबारी साज़िशों के कारण उन्हें पोरबन्दर छोड़ना पड़ा। वे जूनागढ़ राज्य चले गए। जूनागढ़ के नवाब को जब उन्होंने बाएँ हाथ से सलाम किया तो उनसे इसका कारण पूछा गया। उन्होंने जवाब दिया, "दायाँ हाथ तो पोरबन्दर को दिया जा चुका है।" आगे चलकर मेरे पिता श्री करमचन्द गाँधी भी पोरबन्दर राज्य में दीवान हो गए थे। बाद में वे राजकोट और बीकानेर में भी दीवान रहे। पिताजी सत्यप्रिय थे, उदार थे, लेकिन क्रोधी थे। वे अपने राज्य के प्रति वफादार थे। उन्हें पैसे की भी कोई हवस नहीं थी। वे ज़्यादा पढ़े-लिखे नहीं थे लेकिन उनका व्यावहारिक ज्ञान बहुत उच्च कोटि का था।

मेरी माँ पुतली बाई बहुत भावुक महिला थीं। ईश्वर में उनकी अटूट आस्था थी। वे पूजा-पाठ किए बिना भोजन नहीं करती थीं। रोज़ मन्दिर जाती थीं। बिना सूर्य-नारायण के दर्शन के भोजन नहीं करतीं थीं। एक बार बादलों के कारण सूर्य निकल नहीं रहा था। हम लोग सूर्य-नारायण की प्रतीक्षा कर रहे थे। जैसे ही सूर्य निकला, हम लोग चिल्लाए, "माँ, माँ, सूर्य निकल गया।" माँ घर से निकलकर आईं, तब तक सूर्य छिप गया। माँ बोलीं, "आज खाना नहीं बदा है। कोई बात नहीं!" वे अपना काम करने चली गईं।

ऐसे माता-पिता के यहाँ पोरबन्दर में 2 अक्तूबर 1869 को मेरा जन्म हुआ। मेरा बचपन पोरबन्दर में ही बीता। पोरबन्दर में मैं किसी पाठशाला में भी

भेजा जाता था। वहाँ मुश्किल से कुछ पहाड़े ही सीखे होंगे लेकिन और लड़कों के साथ गुरुजी को गाली देना ज़रूर सीख गया था।

पोरबन्दर से जब पिताजी राजकोट चले गए, तब मेरी उम्र सात बरस के करीब थी। मैं राजकोट की पाठशाला में जाने लगा। मैं साधारण श्रेणी का विद्यार्थी था। बहुत झेंपू भी था। मेरा कोई दोस्त भी नहीं था। पाठशाला खत्म होते ही मैं घर भागता था। मुझे किसी से बात करना अच्छा नहीं लगता था। मुझे डर भी लगता रहता था कि कोई मेरा मज़ाक न उड़ाने लगे।

स्कूल की एक घटना का मुझे स्मरण है। शिक्षा विभाग के इंस्पेक्टर स्कूल का मुआयना करने आए थे। उन्होंने हमें अँग्रेज़ी के पाँच शब्द लिखने को दिए। उनमें से एक शब्द मैंने गलत लिख दिया। मास्टर साहब अपने बूट की नोक से इशारा कर रहे थे कि मैं सामने के लड़के की स्लेट से सही हिज्जे लिख लूँ। लेकिन मैंने वैसा नहीं किया। पूरी कक्षा में मैं ही ऐसा लड़का था जिसने एक गलती की थी। बाद में मास्टर साहब ने मेरी 'मूर्खता' के बारे में बताया था लेकिन मुझे कोई पछतावा नहीं हुआ। दूसरों की नकल करना मैंने नहीं सीखा।

बचपन में स्कूल की किताबों के अलावा कुछ पढ़ने में रुचि नहीं थी। सबक पूरा कर डाँट से बचने की इच्छा भी रहती थी। लेकिन उन्हीं दिनों पिताजी की खरीदी एक किताब पर मेरी नज़र गई। वह किताब थी *श्रवण-पितृ भक्ति* नाटक! उसे मैं पढ़ गया। उन्हीं दिनों बाइस्कोप में मैंने श्रवण कुमार के चित्र देखे। काँवर पर माता-पिता को उठाकर घूमने वाले चित्र का मुझ पर बहुत गहरा असर पड़ा। मैं श्रवण कुमार की तरह बनने की कोशिश करने लगा। इसी बीच किसी नाटक कम्पनी के आने पर "हरिशचन्द्र" नाटक मैंने देखा। मेरा मन बार-बार उस नाटक को देखने का करता। मैं सोचता कि हरिशचन्द्र जैसे सत्यवादी सब लोग क्यों नहीं हो जाते?

हाई स्कूल के दिनों में मैं मन्दबुद्धि बालक नहीं माना जाता था। बाद में पढ़ाई में मैंने इनाम भी पाए। पहले मुझे रेखागणित बहुत कठिन लगता था। शिक्षक के समझाने पर भी मेरे दिमाग में कुछ नहीं घुसता था। धीरे-

धीरे सीखते-सीखते रेखागणित मुझे आसान लगने लगा। अँग्रेज़ी का भी यही हाल था। संस्कृत भी मुझे कठिन लगती थी।

मुझे खेल-कूद से बहुत अरुचि थी। जब तक खेल-कूद अनिवार्य नहीं हुआ तब तक मैं कभी कसरत, क्रिकेट या फुटबॉल में गया ही नहीं था। तब मैं यह नहीं समझता था कि विद्यार्थियों के लिए खेल-कूद और व्यायाम कितनी ज़रूरी चीज़ है।

वैसे खेल-कूद के बदले मैं घूमता था। मैंने कहीं पढ़ा था कि खुली हवा में घूमना चाहिए, सो मैं घूमता था। व्यायाम में न जाने का एक और कारण था। स्कूल के बाद घर आकर मैं पिताजी की सेवा करना चाहता था। इसके लिए अपने शिक्षक से छुट्टी माँगता तो वे नहीं देते थे। बाद में इस सम्बन्ध में पिताजी ने हेडमास्टर को पत्र लिखा तो मुझे कसरत से छुट्टी मिल गई।

स्कूल में मुझे एक बार मार भी खानी पड़ी। मुझे मार का इतना दुख नहीं था जितना इस बात का कि मुझे दण्ड का पात्र समझा गया था। चाल-चलन की हमेशा मुझे चिन्ता रहती थी। मैं अपने आचरण में कोई दोष नहीं आने देना चाहता था। स्कूल से जो प्रमाण पत्र भेजा जाता था उसमें मेरे चाल-चलन के बारे में कोई शिकायत नहीं की जाती थी।

एक बार, जब मैं सातवें दर्जे में था, मुझे जुर्माना हुआ। शनिवार का दिन था। स्कूल सुबह का था। शाम के चार बजे कसरत में जाना था। घड़ी तो मेरे पास थी नहीं, बादलों के कारण समय का पता भी नहीं चल पाया। जब स्कूल पहुँचा तो सब लोग जा चुके थे। अगले दिन मुझे गैरहाज़िर मानकर दण्ड दिया गया। मुझे बहुत दुख हुआ। मैं झूठा नहीं हूँ यह साबित करने का कोई उपाय नहीं था। मैं रोकर रह गया।

कसरत के अलावा एक चीज़ और थी जिस पर मैंने ध्यान नहीं दिया था। वह चीज़ थी लिखावट। पता नहीं कैसे मेरे मन में यह गलत विचार घुस गया था कि पढ़ाई में अच्छी लिखावट की ज़रूरत नहीं है! बाद में जब दूसरों के मोती जैसे अक्षर देखता तो मुझे पछतावा होता। मैंने अपने अक्षर सुधारने की कोशिश भी की लेकिन नहीं हो पाया।

हाई स्कूल में मेरे थोड़े ही मित्र थे। एक मित्र था जिसकी मित्रता मेरे घर वाले पसन्द नहीं करते थे। मैं उस मित्र को सुधारना चाहता था लेकिन उसकी संगति का प्रभाव मुझ पर भी था। उसी के साथ मैंने छुपकर मांसाहार किया था। मेरा परिवार वैष्णवों का परिवार था। मांसाहार के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता था। लेकिन उस मित्र ने मुझे समझा दिया कि मांस खाने से शक्ति आती है। हमारे देश में अँग्रेज़ जो राज कर रहे हैं वह इसी वजह से है कि वे मांस खाते हैं। हम भी मांस खाकर शक्तिशाली हो जाएँ तो अँग्रेज़ों को भगा सकते हैं। इसके अलावा उसने मुझे यह भी समझाया कि मैं जो भूत-प्रेत, साँप, चोर वगैरह से डरता हूँ वह भी मांसाहार से जाता रहेगा। मित्र की इन बातों का मुझ पर असर हुआ और मैं मांस खाने को तैयार हो गया। वह मित्र एक दिन कहीं से मांस ले आया। भटियारे के यहाँ से डबलरोटी भी खरीद ली। हम लोग नदी के किनारे एकान्त में चले गए। पहली बार मांस खाने में मुझे उलटी आने लगी। मैं पछताया। रात में मुझे नींद भी नहीं आती थी।

लेकिन मेरा मित्र हार मानने वाला नहीं था। उसने किसी बावर्ची से साँठ-गाँठ कर गुप्त रूप से राज्य की अतिथिशाला में हमारे मांस खाने का प्रबन्ध किया। हम कई बार वहाँ गए। जब भी मैं वहाँ से मांस खाकर घर लौटता, खाना नहीं खा पाता। माँ से झूठ बोल देता। माँ-बाप से झूठ बोलना मुझे बहुत खराब लगता।

एक बार वह मित्र मुझे वेश्यालय भी लेकर गया। मुझे सिखा-पढ़ाकर एक औरत के कमरे में भेजा। मैं घुस तो गया लेकिन अन्दर जाकर मैं अन्धा हो गया। चुपचाप उस स्त्री की चारपाई पर बैठ गया। मेरे मुँह से बोली भी नहीं निकल रही थी। स्त्री गुस्सा गई, मुझे गालियाँ देने लगी और दरवाज़े से बाहर कर दिया। उस समय लग रहा था कि धरती फट जाए और मैं उसमें समा जाऊँ।

इसी तरह एक रिश्तेदार की संगत में मैं सिगरेट पीना सीख गया था। सिगरेट पीने के लिए हमारे पास पैसे नहीं थे, इसलिए चाचा के फेंके हुए सिगरेट के टुकड़े चुराकर हम पीते। लेकिन इससे हमें ज़्यादा मज़ा नहीं

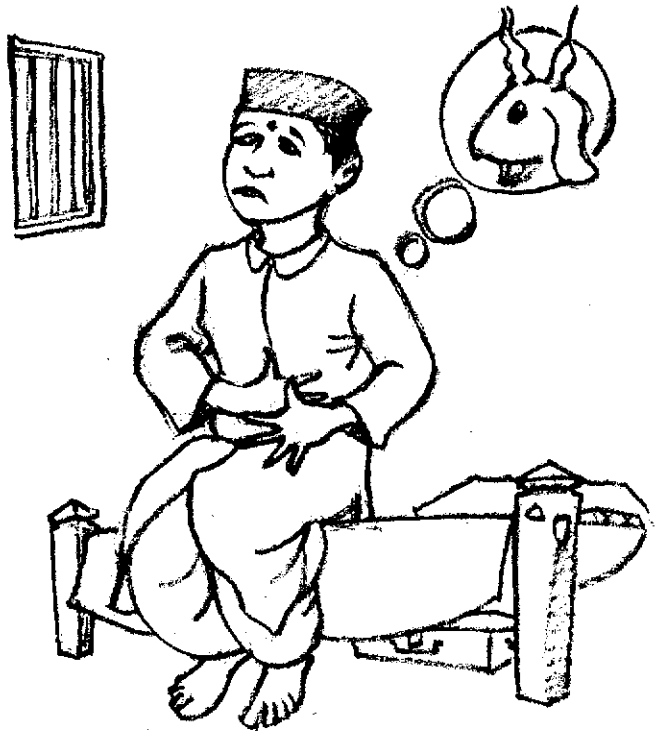

आता। हम नौकर की जेब से एक-आध पैसा चुराकर सिगरेट खरीदने लगे। कुछ समय इसी तरह चला। फिर हम एक पौधे की डण्ठल को सिगरेट की भाँति पीने लगे। पर हमें इससे सन्तोष नहीं हुआ। हमें यह लगने लगा कि हम अपने मन से कुछ नहीं कर सकते, इसलिए आत्महत्या करने की सोचने लगे। ज़हर के बारे में पता लगाया। पता चला कि धतूरे के बीज को खाने से मृत्यु होती है। हम जंगल से बीज ले आए। शाम के समय मन्दिर जाकर दीये में घी चढ़ाया, फिर एकान्त में बैठ गए। लेकिन हमें ज़हर खाने की हिम्मत नहीं हुई। हमने आत्महत्या की बात मन से निकाल दी। इससे एक फायदा हुआ, हमने सिगरेट पीना और नौकर की जेब से पैसे चुराना छोड़ दिया।

आगे चलकर मैंने एक बार और चोरी की। उस समय मैं पन्द्रह साल का रहा होऊँगा। मेरे बड़े भाई के ऊपर पच्चीस रुपए का कर्ज़ हो गया था। उसे चुकाने की समस्या थी। भाई के हाथ में सोने का कड़ा था। उसमें से तोला भर सोना काटकर कर्ज़ उतारा गया। लेकिन मेरे लिए यह बात असहनीय हो गई। मैं पिता को यह बात बता देना चाहता था, लेकिन इस डर से नहीं बता रहा था कि वे अपना ही सिर पीट लेंगे। हम लोगों को तो वे कभी मारते नहीं थे, अपना ही सिर पीटने लगते थे। आखिर मैंने एक उपाय निकाला। पिता के नाम एक पत्र लिखा और पिता को दे आया। पत्र में मैंने अपना दोष स्वीकारा और अपने लिए दण्ड भी माँगा।

मेरा पत्र पढ़कर पिता की आँखों से आँसू बहने लगे। उन्होंने पत्र फाड़ दिया और तख्त पर लेट गए। उन्होंने मुझे कुछ नहीं कहा। मैं भी रोने लगा। उनके इस तरह क्षमा करने से मैं शान्त हो गया। मेरे लिए यह अहिंसा का ही एक पाठ था।

वैष्णव परिवार का होने से मैं बराबर मन्दिर जाया करता था। लेकिन मन्दिर का वैभव मैं पसन्द नहीं कर पाता था। धीरे-धीरे मन्दिर से मेरा ध्यान हट गया। उन्हीं दिनों रम्भा नाम की दाई ने मुझे रामनाम का मंत्र दिया। भूतों से डरने के उपाय के रूप में उन्होंने राम का नाम जपने को कहा। उस समय अधिक दिनों तक मैं रामनाम नहीं जप सका लेकिन आगे चलकर यही रामनाम मेरे लिए अमोघ शक्ति बना। रम्भा दाई ने ही मेरे अन्दर रामनाम का बीज बोया था।

तेरह साल की उम्र में मुझे रामायण सुनने का मौका मिला। रामायण का मेरे ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा।

राजकोट में घर पर जैन धर्माचार्य आते-जाते रहते थे। पिताजी उनका सत्कार करते। पिताजी के कुछ मुसलमान और पारसी मित्र भी थे जो अपने-अपने धर्म की चर्चा किया करते थे। मैं उनकी बातें ध्यान से सुनता। मेरे मन में सभी धर्मों के प्रति समभाव की उत्पत्ति इन्हीं वजहों से हुई।

❖

शरत्चन्द्र

संसार-कोश की बात झूठी निकली

मेरे दादा बैकुण्ठलाल चट्टोपाध्याय चौबीस परगना ज़िले के काँचरापाड़ा के पास मामूदपुर के रहने वाले थे। झूठी गवाही देने से इन्कार करने के कारण इलाके के ज़मींदार ने उनकी हत्या करवा दी थी। इसके बाद मेरी दादी मेरे पिता मोतीलाल चट्टोपाध्याय को लेकर अपने भाई के पास देवानन्दपुर चली गईं। देवानन्दपुर में ही आगे चलकर 15 सितम्बर 1876 को मेरा जन्म हुआ। मेरी माँ का नाम भुवनमोहिनी था। वे भागलपुर की रहने वाली थीं। मेरे नाना केदारनाथ गंगोपाध्याय सम्पन्न और प्रतिष्ठित व्यक्ति थे।

मेरा बचपन ज़्यादातर देवानन्दपुर और भागलपुर में बीता। मैं बचपन में बहुत शैतानियाँ किया करता था। कभी मैं बचकर निकल जाता, कभी पकड़ में आता तो पिटाई भी होती। एक बार की बात है मेरे मास्टर साहब चिलम में तम्बाकू भरकर कहीं चले गए। मैंने तम्बाकू के स्थान पर ईंट के टुकड़े भर दिए। लौटकर जब मास्टर साहब चिलम सुलगाने लगे तो उससे धुआँ ही नहीं निकल रहा था। उलट-पलटकर देखने पर उन्हें पत्थर नज़र आ ही गया। वे हमें पूछने लगे कि यह किसका काम है? उनके बार-बार चीखने पर एक लड़के ने डरकर मेरा नाम बता ही दिया। अब मास्टर साहब बेंत लेकर मेरी ओर लपके। मैं कूदकर भागा। भागते-भागते उस लड़के को धकेलना मैं नहीं भूला जिसने मेरा नाम बतलाया था। मास्टर साहब मेरे घर पहुँच गए। उन्होंने माँ को पूरी बात बता दी। माँ मुझे पीटने लगी। बीच-बीच में वे अपना सिर भी पीट लेतीं। दादी उन्हें समझातीं, "इसे

मत मार। एक दिन इसकी मति लौट आएगी और यह बहुत बड़ा आदमी होगा।"

शरारतों के कारण पाठशाला में मुझे दण्ड मिला करता था। जलपान की छुट्टी के समय मुझे बाहर जाने की अनुमति नहीं थी क्योंकि मैं एक बार स्कूल से बाहर जाता तो लौटकर ही नहीं आता था। एक बार जलपान की छुट्टी के समय मास्टर साहब सो रहे थे और कक्षा का मॉनीटर भोलू बेंच पर बैठा कक्षा की निगरानी कर रहा था। मैंने भोलू को पास के चूने के ढेर में धकेल दिया और भाग गया। मास्टर साहब की नींद खुल गई। उन्होंने भोलू को भूत की तरह देखकर कहा, "वह शरता तुझे धक्का देकर भाग गया?" उसके बाद लड़के मेरी खोज में निकले लेकिन कोई मुझे पकड़ नहीं सका। जो भी मुझे पकड़ना चाहता, मैं उसे ईंट फेंककर मारता।

मैं अक्सर दोस्तों के साथ मछली का शिकार करने जाता। कभी नाव लेकर नदी में सैर करता, कभी बाग से फल चुराता। कभी जंगल में घूमता। एक बार नदी के घाट पर एक डोंगी पड़ी हुई थी। मैं उसमें बैठ गया और उसे खेता हुआ तीन-चार मील दूर कृष्णपुर गाँव पहुँच गया। वहाँ रघुनाथ बाबा के अखाड़े में पहुँच गया। रात हो गई थी, लौट नहीं सका। अगले दिन पिताजी ढूँढते-ढूँढते वहाँ पहुँच गए थे।

एक दिन मोहल्ले का नयन बागदी दादी से पाँच रुपए लेकर गाय खरीदने बसन्तपुर जा रहा था। मुझे याद आया कि बसन्तपुर में छीप बनाने का अच्छा बाँस मिलता है। मैं चुपचाप नयन के पीछे-पीछे चल पड़ा। एक मील चलने के बाद नयन का ध्यान मेरी ओर गया। वह घबरा गया, मुझे लौट जाने को कहने लगा। मैं हरगिज़ नहीं माना। लौटते हुए रात हो गई। रास्ता बहुत खतरनाक था। डाकूओं का डर था। आखिर वे आ ही गए। नयन ने एक को दबोच लिया। वह तो उसे खत्म ही कर देता। मैंने कहा, "नयन दादा, इसे मारो नहीं!"

मेरे पिताजी यायावर स्वभाव के थे। वे कल्पनाशील और स्वप्नदर्शी व्यक्ति

थे। उनको नौकरी कभी बाँधकर नहीं रख सकी। अक्सर वे नौकरी छोड़ बैठते और पढ़ने-लिखने में व्यस्त हो जाते। वे लिखते भी थे मगर कोई रचना पूरी नहीं कर पाते थे। अपने इस स्वभाव के चलते वे परिवार का भरण-पोषण भी नहीं कर पाते थे। ऐसे में माँ ने नानाजी से बात की और हम लोगों को लेकर भागलपुर चली गईं। पिताजी भी हमारे साथ थे।

भागलपुर आने पर मुझे दुर्गाचरण एम.ई. स्कूल में भर्ती कर दिया गया। मैंने अब तक बहुत कम पढ़ाई की थी इसलिए क्लास में पीछे था। लेकिन मैंने मेहनत से पढ़ना शुरू किया और धीरे-धीरे अच्छे बच्चों में गिना जाने लगा। लेकिन भागलपुर में भी मेरी शरारतें कम नहीं हुईं। एक बार पढ़ाई के समय एक चमगादड़ हमारे सिर पर मँडराने लगा। हम लोग लाठी लेकर उस पर पिल पड़े। स्कूल में जल्दी छुट्टी के लिए हम लोग घड़ी की सुई आगे बढ़ा देते। मास्टर साहब जब पास की दुकान पर तम्बाकू खाने जाते, स्कूल की घड़ी दस मिनट आगे खिसक जाती। धीरे-धीरे घड़ी आधा घण्टा आगे होने लगी। इसके बाद एक घण्टा भी। एक दिन जब तीन का समय होने पर ही चार बज गए और हमारी छुट्टी हो गई तो हमारे अभिभावकों के मन में सन्देह होने लगा। मास्टर साहब से शिकायत की गई। आखिर एक दिन जब बच्चे एक-दूसरे के कन्धे पर चढ़कर घड़ी आगे बढ़ा रहे थे, मास्टर साहब पहुँच गए। मैं अच्छे बच्चे की तरह पढ़ने में व्यस्त था। मास्टर साहब यह कभी नहीं जान सके कि घड़ी को आगे खिसकाने की प्रेरणा मैंने ही बच्चों को दी थी।

छठी पास करने के बाद मैं अँग्रेज़ी स्कूल में भर्ती हुआ। तब भी मेरी शरारत कम नहीं हुई। पतंग उड़ाने की मनाही होने के बावजूद मैं पतंग उड़ाता। लट्टू घुमाना, गोली और गुल्ली-डण्डा खेलना भी मुझे बहुत पसन्द था। नाना के घर के पास ही गंगा के किनारे एक बंगला था। उसमें भूत का आवास माना जाता था। हमें उधर जाने की मनाही थी। लेकिन हमने सबसे छुपकर रातों-रात वहाँ एक अखाड़ा बना लिया था। वहाँ हम लोग कुश्ती लड़ा करते थे। पास बहती गंगा में मैं अक्सर तैरने भी जाता था। गंगा के किनारे एक मकान के नीचे जंगल-झाड़ के बीच एक गुफानुमा

जगह में मैं अक्सर बैठा करता था। मैंने उस जगह को 'तपोवन' नाम दे रखा था। वहाँ एकान्त में बैठना मुझे बहुत अच्छा लगता था।

खेलने-कूदने के साथ-साथ मुझे पढ़ने का भी बहुत शौक था। मैं स्कूल की पुस्तकों के अलावा पिता के संग्रहालय से किताबें निकालकर पढ़ा करता था। वहीं से मुझे एक दिन *संसार-कोश* नाम की पुस्तक मिली। उस पुस्तक में कई तरह की बातें सिखाई गई थीं। बड़ों के कोप से बचने का जो मंत्र उसमें था उसे मैंने अपने दोस्तों को भी सिखा दिया। उसी किताब में मैंने पढ़ा कि बेल की एक हाथ लम्बी जड़ से किसी भी विषधर साँप को वश में किया जा सकता है। मैंने ढूँढ-ढाँढकर बेल की जड़ निकाल ली।

अब समस्या साँप की थी। मैं दल-बल के साथ साँप को ढूँढने निकला। बहुत ढूँढने पर अमरूद के एक पेड़ के नीचे मलबे में साँप का एक बच्चा मिला। हम उसे छेड़ने लगे। साँप ने अपना फन निकाल लिया। मैंने बेल की जड़ उसके आगे फेंक दी। मगर यह क्या? उस जड़ से भागने की बजाय साँप उसे ही डँसने लगा। यह देख हमें डर लगने लगा। तब मेरे मामा मणि कहीं से लाठी लेकर आए और उस साँप का संहार किया।

करीब तीन साल भागलपुर में रहने के बाद फिर मुझे देवानन्दपुर जाना पड़ा। वहाँ मैं हुगली ब्रांच स्कूल में भर्ती हो गया। दो कोस चलकर स्कूल जाता। घर में इतनी गरीबी थी कि स्कूल की फीस भरना मुश्किल था। पिताजी पर ऋण चढ़ता गया। अन्ततः वे फीस का प्रबन्ध नहीं कर सके और मेरा स्कूल जाना बन्द हो गया। शुरू-शुरू में तो किसी दोस्त के घर थोड़ा भात खाकर स्कूल के रास्ते किसी पेड़ के नीचे लड़कों के साथ समय काट देता था, फिर दोस्तों के साथ छुरी लेकर घूमने लगा। दूसरों के बगानों से फलों की चोरी करने लगा। लेकिन वे फल हम खाते नहीं थे बल्कि गरीबों में बाँट देते थे। दूसरों के ताल से मछलियाँ पकड़ना और उन्हें गरीबों में बाँट देना भी हमारा काम था। एक बार गरीबी के कारण इलाज न करवा पाने वाले एक व्यक्ति की सहायता के लिए भी हमने चोरी से मछलियाँ पकड़ी थीं।

बचपन से ही मैं लोगों को कहानियाँ गढ़कर सुनाया करता था। पन्द्रह साल की उम्र में तो इस काम में मुझे कोई दिक्कत ही नहीं होती थी। पूरे गाँव में मेरे इस गुण की प्रशंसा होती थी। ज़मींदार नव गोपाल दत्त मुंशी इस कारण मुझसे बहुत स्नेह करते थे। मुंशीजी का पुत्र अतुलचन्द, जो कलकत्ते में पढ़ता था, मुझे छोटे भाई की तरह प्यार करता था। वह मुझे कलकत्ते में ले जाकर थिएटर दिखाने का लोभ देता और इसके बदले मुझे कहानियाँ लिखने को कहता। मैं कुछ लिखकर उसे दिखाता तो वह कहता, "अच्छा, तुम तो इतनी अच्छी कहानी लिख सकते हो?"

कहानी लिखने की प्रेरणा मुझे दूसरी तरह से भी मिली। मैंने चोरी-चोरी पिता की अलमारी से *हरिदास की गुप्त बातें* और *भवानी पाठ* जैसी वर्जित

पुस्तकें भी पढ़ डाली थीं। अपने साथियों को भी मैं ये पुस्तकें पढ़कर सुनाता। फिर मन ही मन नए कथानक गढ़ता। धीरे-धीरे मैं मौलिक कहानियाँ भी लिखने लगा। जो पहली मौलिक कहानी मैंने लिखी उसका नाम था "काशीनाथ"। "काकबासा" और "कोरेल ग्राम" कहानियाँ भी इसी समय मस्तिष्क में उभरी थीं।

❖

राजेन्द्र प्रसाद

भाई से सीखा स्वदेशी का पाठ

संयुक्त प्रान्त के अमोढ़ा से निकलकर हमारे पूर्वज बिहार के सारन के एक गाँव जीरादेई में आकर रहने लगे थे। जीरादेई में आने वाले पूर्वज मुझसे सात-आठ पीढ़ी ऊपर थे। वे रोज़ी-रोटी की खोज में यहाँ आए थे। उस गाँव में कोई पढ़ा-लिखा नहीं था। हमारे पूर्वज पढ़े-लिखे थे, इसलिए गाँववालों ने उन्हें रख लिया। उसी समय उनका सम्बन्ध हथुआ राज्य से हो गया। वहाँ उन्हें लिखने-पढ़ने की छोटी-सी नौकरी मिल गई। मेरे पूर्वजों का हथुआ राज्य से सम्बन्ध कई पीढ़ियों तक चलता रहा। मेरे दादा के बड़े भाई चौधुर लाल वहाँ 25-30 वर्षों तक दीवान रहे।

मेरे दादा मिश्री लाल थे। उनकी मृत्यु बहुत छोटी उम्र में हो गई। उनके केवल एक लड़का था – महादेव सहाय। वही मेरे पिता थे। चौधुर लाल जी के भी एक बेटा था – जगदेव सहाय। चौधुर लाल अपने पुत्र और भतीजे को बहुत स्नेह करते थे। मुझे याद है, मैं और मेरे चाचा की लड़की उनके बदन पर उछला-कूदा करते थे। वे हमें बहुत प्यार से खेलाया करते थे। मेरे चाचाजी ज़मींदारी के काम में रुचि लेते थे। पिताजी को बाग लगाने का शौक था। उनका अधिक समय इसी काम में बीतता था। आज भी उनके लगाए आम के दो बगीचे हमारे यहाँ हैं। पिताजी फारसी के विद्वान थे। संस्कृत भी जानते थे। आयुर्वेद में उनकी दिलचस्पी थी। पुस्तकों से पढ़कर वे चतुर वैद्य हो गए थे। वे बिना नाड़ी देखे केवल बीमारी के लक्षण जानकर दवा देते थे। बहुत से रोगी ठीक भी हो जाते थे। इससे उनका यश फैलता जाता था। जो लोग दवा खरीद सकते थे उन्हें वे नुस्खा लिख देते थे। गरीबों को मुफ्त दवा भी देते थे।

पिताजी शरीर से भी पुष्ट थे। उन्होंने अखाड़े में कसरत भी की थी। वे मुद्गर भाँजना जानते थे। मुझे भी मुद्गर भाँजना सिखाते थे। घोड़े की सवारी करते थे और हमेशा घोड़ा रखते थे। मुझे और बड़े भाई को घोड़े की सवारी करना भी उन्होंने सिखाया था।

लड़कपन में हम लोग देहाती खेल खेला करते थे। कोई दिन बिना खेले नहीं बीतता होगा। कबड्डी, चिक्का और दोल्हापाती हमारे खेल थे। दोल्हापाती में पेड़ पर चढ़ना होता था। मुझे पेड़ पर चढ़ने में डर लगता था। इसलिए मैं दोल्हापाती नहीं खेलता था। गाँव में कोई नदी भी नहीं थी। इसलिए मैं तैरना नहीं सीख सका।

मेरी माँ और दादी मुझे बहुत प्यार करती थीं। बचपन से ही मेरी आदत थी कि मैं शाम को बहुत जल्दी सो जाता और कुछ रात रहते ही बहुत सबेरे जाग जाता। सुबह जग जाने पर मैं माँ को भी नहीं सोने देता। वे जागकर प्रभाती सुनातीं। रामायण इत्यादि की कहानियाँ सुनातीं। भजनों और कथाओं का मेरे दिल पर बहुत असर पड़ता।

शाम में बहुत जल्दी सो जाने के कारण मैं बिना खाए ही सो जाता। रात में हमेशा जगाकर ही मुझे खिलाया जाता। आँखें नहीं खुलती थीं, मगर माँ मुझे हिला-डुलाकर मुँह खुलवा लेतीं और मुँह में कौर डाल देतीं। हमारी एक दाई – जिसे हम लोग काकी कहते थे – इस काम में और भी माहिर थीं। जब किसी के बहुत कोशिश करने पर भी मेरा मुँह बन्द ही रहता, वे किसी न किसी उपाय से उसे खुलवा देतीं और भात खिला देतीं। मैं जब छपरा और पटना पढ़ने के लिए गया तब भी मेरी यह आदत छूटी नहीं थी और एक ब्राह्मण रसोईदार मुझे उसी पुराने उपाय से भोजन करवा दिया करते थे। बड़ा होने पर भी शाम को जल्दी सोने की आदत नहीं गई थी। इससे कभी-कभी पढ़ाई में दिक्कत आती थी।

कलकत्ते में जब मैं वकालत, लॉ कॉलेज की प्रोफेसरी और एम.एल. परीक्षा की तैयारी साथ-साथ ही कर रहा था, शाम साढ़े सात-आठ बजे मुवक्किलों के कागज़ लेकर बैठता तो झपकी लेने लगता। परीक्षा की तैयारी का समय भी रात में ही मिलता था, लेकिन पुस्तक हाथ में आते ही नींद आ

जाती थी। आखिर नींद से बचने का मैंने एक उपाय निकाला। एक दिन जब नींद आने लगी तो किताब लेकर खड़ा हो गया। उस पर भी नहीं हुआ तो कमरे में टहल-टहलकर पढ़ने लगा। पता नहीं कब टहलते-टहलते ही मुझे नींद आ गई! अचानक हाथ से किताब गिरी और मैं धड़ाम से फर्श पर गिर पड़ा। सिर फूटने से बच गया, बस चोट आकर रह गई। तब से यह खतरनाक प्रयोग मैंने छोड़ दिया।

हमारे एक मौलवी साहब बड़े मज़ेदार थे। उन्होंने ही मुझे अक्षरारम्भ करवाया था। मेरे रिश्ते के एक चाचा बलदेव इनका हमेशा मज़ाक उड़ाते रहते थे। बलदेव चचा शतरंज खेलते तो मौलवी साहब भी शतरंज खेलने का दावा करते। वे हमेशा हारते। एक बार बलदेव चचा ने कहा कि बाग में हनुमान आ गए हैं, उन्हें गुलेल से मारकर भगाया जा सकता है। इतना सुनते ही मौलवी साहब बोल पड़े, "मैं भी गुलेल चलाना जानता हूँ।" बलदेव चचा समझ गए। बाग में ले जाकर उन्हें गुलेल पकड़ा दी। मौलवी साहब ने खूब खींचकर गोली छोड़ी। चोट बन्दर को तो नहीं आई, मौलवी साहब के अँगूठे से खून बहने लगा। वे दर्द से छटपटा उठे।

इसी तरह एक बार सब लोग गपशप कर रहे थे। एक साँड़ कहीं से आ गया। किसी ने कहा, "साँड़ लोगों को मारता है।" मौलवी साहब इस बात से डरने वाले नहीं थे। वे बिना खौफ के आगे बढ़े। साँड़ ने उनको पटक दिया। एक बार एक गिद्ध को मारने के लिए बन्दूक निकाली गई। मौलवी साहब किसी चीज़ को न जानने की बात कुबूल करना अपनी शान के खिलाफ समझते थे। उन्होंने बन्दूक सम्हाल ली। बन्दूक अपने सीने पर रखकर निशाना लगाया। बन्दूक की आवाज़ हुई और गिद्ध के बदले मौलवी साहब ज़मीन पर चित गिरे। बन्दूक के धक्के से वे गिर पड़े थे।

बाद में दूसरे मौलवी साहब बुलाए गए। वे बहुत गम्भीर थे। सुबह से रात तक हमें पढ़ाते। बीच-बीच में खाने-पीने और शाम में खेलने की छुट्टी भी देते। शाम को पढ़ने में हमें नींद आने लगती। हममें से यमुना भाई छुट्टी पाने के नए-नए उपाय निकालते। वे दिन में ही एक पोटली में राख या धूल बाँधकर रख लेते। दीये की बाती उकसाने के बहाने राख या धूल दीये में

डाल देते। थोड़ी ही देर में दीया बुझ जाता और हमें छुट्टी मिल जाती। किसी-किसी दिन यमुना भाई पेशाब के बहाने छुट्टी लेकर बाहर जाते और दौड़कर हम में से किसी की माँ के पास चले जाते। जाकर कहते, "अब नींद लग रही है, दाई को जल्दी बुलाने भेजो नहीं तो हमारी पिटाई हो जाएगी।" उनके लौटने के बाद दाई पहुँच जाती और हमें छुट्टी मिल जाती।

एक दिन यमुना भाई दौड़े जा रहे थे कि गाँव के एक सज्जन ने उन्हें देख लिया और मौलवी साहब से जाकर कह दिया। यमुना भाई से जब पूछा गया तो उन्होंने कह दिया, "पेशाब करने गए तो अँधेरे में डर लगने लगा, इसलिए भाग रहे थे।" यमुना भाई इस बहाने से बच गए।

मौलवी साहब ने हमें फारसी का ज्ञान दिया। हम सब उन्हें प्यार करते थे। जब घर छोड़कर अँग्रेज़ी पढ़ने हम छपरा जा रहे थे, हमें बहुत दुख हो रहा था। मौलवी साहब भी बहुत दुखी हुए।

उन दिनों गाँव का जीवन आज से भी ज़्यादा सादा था। गाँव में प्रायः सभी जातियों के लोग बसते थे। उन दिनों भी हमारे गाँव में सभी चीज़ें मिलती थीं। फिर भी बाहर से कुछ बिकने के लिए आता तो हमें बहुत मज़ा आता। मौलवी साहब के यहाँ भी दो-चार महीने में एक बार एक आदमी फारसी की किताबें और एक-दो बोतल स्याही देने आता था। उन्हें देखकर हमें बहुत अच्छा लगता। कभी नारंगी-नींबू की टोकरी लिए कोई बेचने आता तो हमें लगता कोई नायाब चीज़ मिल गई है।

मेरे गाँव में दो छोटे-छोटे मठ थे जिनमें एक-एक साधु रहा करते थे। गाँव के लोग उन्हें भोजन देते थे। रामनवमी और जन्माष्टमी पर मठ में तैयारी होती थी। हम सब बच्चे कागज़ और पन्नी के फूल काटकर ठाकुरबाड़ी के दरवाज़ों और सिंहासन को सजाते थे।

जब गाँव में रामलीला वाले आते तो हमारा बहुत मनोरंजन होता। पन्द्रह-बीस दिनों तक खूब चहल-पहल रहती। रामलीला में जो लोग राम-लक्ष्मण इत्यादि बनते थे वे पढ़े-लिखे नहीं होते थे। जिनको जो कुछ कहना होता,

उनको बताया जाता और वे दोहराते जाते थे। अगर बताने वाला कहता, "राम जी कहीं हे सीता" तो राम जी बने व्यक्ति वही दोहरा देते।

दशहरे के अलावा होली और दीवाली भी हमारे गाँव में धूमधाम से मनाई जाती। होली में गाँव के अमीर-गरीब सभी शामिल हो जाते थे। गाँव के मुसलमान भी होली में शरीक होते थे। सभी एक-दूसरे पर कीचड़ डालते, रंग डालते। जब कोई साफ-सुथरा आदमी मिल जाता तो कीचड़ लगाकर उसको भी अपनी जाति में मिला लेते। बूढ़े, जवान, बच्चे सभी शामिल हो जाते, सभी के दरवाज़े पर जाते। सबका नाम ले-लेकर गालियाँ गाते।

होली, दशहरा और दीवाली की तरह ही मुहर्रम भी पूरे गाँव का त्यौहार था। हिन्दू भी इसमें पूरी तरह शामिल होते। "या अली, या इमाम" के नारे लगाए जाते। हिन्दू-मुसलमान का कोई भेद नहीं रहता।

गाँव से निकलकर मैं छपरा पढ़ने चला गया। भाई भी वहीं थे। भाई उन दिनों 'एंट्रेंस' क्लास में पहुँचे थे। मेरे लिए कोई मास्टर अलग से नहीं रखा गया था। इससे मुझे एक फायदा हुआ। स्कूल में पढ़ाई पर ध्यान देने की आदत लग गई। शुरू से ही अपने ऊपर भरोसा करना भी आ गया। इम्तिहान में मेरे बहुत अच्छे नम्बर आए। मैं अपने दर्जे में अव्वल रहा। हेडमास्टर मुझे डबल तरक्की देने की सोचने लगे। उन्होंने मुझे बुलाया। वे उन्हीं लड़कों को बुलाते थे जिनकी कोई शिकायत पहुँचती थी। मुझे बहुत डर लगा। लेकिन उन्होंने जब कहा कि मैं तुम्हें डबल तरक्की देकर ऊपर की क्लास में भेजना चाहता हूँ तो मुझे खुशी हुई। आश्चर्य भी हुआ। मैंने कहा, "मैं भाई से पूछकर कहूँगा।" हेडमास्टर साहब मेरे भाई को जानते थे। उन्होंने भाई को भी पढ़ाया था। भाई हेडमास्टर के पास आए और बोले, "क्लास लाँघने से यह पढ़ाई में कमज़ोर हो जाएगा।" हेडमास्टर हँसकर बोले, "क्या तू मुझसे ज़्यादा इस बात को समझता है?" उन्होंने मुझे ऊपर की क्लास में भेज दिया।

भाई एंट्रेंस पास कर पटना पढ़ने चले गए। मैं भी उनके साथ चला गया। टी.के. घोष एकेडमी में नाम लिखाया गया। यह स्कूल उन दिनों बहुत अच्छा समझा जाता था। उस स्कूल में जाकर मैंने महसूस किया कि डबल

तरक्की के बारे में भाई की राय हेडमास्टर से अधिक ठीक थी। दूसरे लड़के कई विषय मुझसे ज़्यादा जानते थे। मैं अपनी पढ़ाई में और ध्यान देने लगा।

पटना में सावन महीने के प्रत्येक सोमवार को सोमवारी मेला लगा करता था। हम वहाँ घूमने जाते थे, छोटी-छोटी चीज़ें खरीदते थे। एक बार एक मूर्ति मुझे पसन्द आ गई। उसे खरीदने की ज़िद मैं करने लगा। भाई को खरीदना ही पड़ा।

एफ.ए. की परीक्षा पास कर भाई कलकत्ते में मेडिकल की पढ़ाई करना चाहते थे। मैं हथुआ आ गया। हालाँकि मेडिकल में नाम नहीं लिखे जाने के कारण वे फिर से पटना आ गए, लेकिन मैं हथुआ में ही रह गया। यहाँ की पढ़ाई छपरा और पटना की पढ़ाई से अलग थी। यहाँ रटने पर विशेष ज़ोर दिया जाता था। मैं रटने से घबराता था। किसी ने कहा कि अगर किसी चीज़ को 120 बार दोहरा दिया जाए तो वह ज़रूर याद हो जाती है। मैं बहुत कोशिश करके 120 बार दोहराता लेकिन फिर भी पेज का पेज कण्ठस्थ नहीं कर पाता। हथुआ में मैं बीमार पड़ गया तो मेरा नाम कटाकर छपरा में लिखा दिया गया। वहाँ मेरी पढ़ाई ठीक चलने लगी।

भाई जब घर आते थे तो बहुत-सी बातें करते थे। मैं उनकी बातें ध्यान से सुनता और उन पर अमल करने की कोशिश करता। एक बार उन्होंने स्वदेशी की बात की। वे स्वदेशी कपड़े भी ले आए थे। मैंने उसी समय से स्वदेशी कपड़ा पहनना शुरू कर दिया। बाद में जब गाँधी जी ने खद्दर की बात की, तब खद्दर के सिवा कोई कपड़ा नहीं खरीदा।

स्वदेशी का विचार केवल कपड़ों तक ही सीमित नहीं था। और चीज़ों के खरीदने में भी इसका ध्यान रखते। यूनिवर्सिटी का इम्तिहान देने के लिए खास करके देसी कलम और निब भी मैंने ली थी। बाद में मुझे शक होता था कि बहुत-सी चीज़ें जिनको अपने भोलेपन में स्वदेशी समझकर हम खरीद लेते थे, शायद स्वदेशी नहीं थीं। दुकानदार हमें ठग लिया करते थे। लेकिन स्वदेशी पर हमारी श्रद्धा अटल थी और हम वही समझकर उनको लेते थे। ❖

दत्तात्रेय कालेलकर

उसी क्षण मैंने प्रतिज्ञा की

मेरे जन्म से पहले की एक कहानी है। पिताजी उन दिनों सतारा में नौकरी करते थे। एक दिन उनके यहाँ एक साधु आया। माँ को देखकर उसने कहा, "इस बार भी आपके यहाँ लड़का ही होगा। उसका नाम दत्तात्रेय रखिएगा।"

पिताजी साधु को कुछ दक्षिणा देना चाहते थे मगर साधु ने लेने से मना कर दिया। वे चले गए। कुछ ही दिन बाद मेरा जन्म हुआ। तारीख थी 1 दिसम्बर 1885। मेरा नाम दत्तात्रेय ही रखा गया। छह भाई और एक बहन के बीच सबसे छोटा होने के कारण सब लोग मुझे प्यार से दत्तू कहने लगे। सबसे छोटा होने के कारण परिवार के सभी लोग मुझे प्यार भी करते थे, इसलिए बहुत दिनों तक मैं बच्चा ही बना रहा। चार-पाँच साल तक मुझे दादी, माँ या भाभी अपने हाथ से खिलाती रहीं। बड़े भाई, जिन्हें मैं बाबा कहता था, मुझसे चिढ़ जाते और कह देते, "ऊँट जैसा बड़ा हो गया मगर अपने हाथ से नहीं खाता है।"

बड़े भाई की बात सुनकर मुझे बुरा लगता था, मगर अपने हाथ से खाने की बात दिमाग में आती ही नहीं थी। एक बार घरवालों ने योजना बनाकर मेरी यह आदत छुड़वानी चाही। मेरी एक भतीजी मुझसे डेढ़ साल छोटी थी। एक बार उसे किसी ने कहा, "आज तुम दत्तू को खिलाओ।" जैसे ही भतीजी के हाथ से मैंने पहला कौर लिया, सभी चिढ़ाने लगे, "देखो, भतीजी चाचा को खिला रही है!"

मुझे इस बात से बहुत शर्म आई और उसी क्षण मैंने अपने हाथ से खाने

का निश्चय किया। मगर मुझे यह पता नहीं था कि किस हाथ से खाया जाता है। मैंने बाएँ हाथ से ही खाना शुरू कर दिया। इस पर फिर से मेरी हँसी उड़ाई गई। मैं पिताजी से सही हाथ के बारे में पूछकर खाने लगा। रोज़-रोज़ पूछना भी मुझे खराब लग रहा था, इसलिए एक दिन अचानक मुझे एक बात सूझ गई। मेरे दाएँ कान में बाली थी। उसी का अनुसरण कर मैं दाएँ हाथ से खाने लगा।

सतारा में जहाँ हम लोग रहते थे, थोड़ी दूर पर एक किला था। उस किले के बारे में जानने की उत्सुकता मुझे होती। एक दिन मैंने पाया कि सीढ़ियों पर खड़े होकर उठ-बैठ करने से किला भी ऊँचा-नीचा हो रहा था। मुझे इस खेल में बहुत मज़ा आया। मैं बार-बार उठ-बैठकर किले को छोटा-बड़ा होता देखता रहा। अपनी इस खोज के बारे में मैंने अपने भाइयों गोंदू और केशू को भी बताया। पड़ोस के दो लड़के भी आ गए। सभी उस खेल का मज़ा लेने लगे।

बचपन में मैं थोड़ी-बहुत शरारतें भी किया करता था। बड़े भाई बाबा और अण्णा को पढ़ाने एक शिक्षक आते थे। वे बड़े गुस्सैल स्वभाव के थे। उनको देखकर हम बच्चे इधर-उधर छुप जाते थे। एक बार मैंने एक उपाय सोचा। जब वे पढ़ा रहे थे तब दरवाज़े के पीछे से ज़ोर से 'कू' की आवाज़ मैंने की और जब तक मास्टर साहब मुझे पकड़ते, मैं भाग गया। तभी वहाँ गोंदू आ गया। मास्टर साहब ने उसी को दोषी समझकर पकड़ लिया। चपत लगा दी। दूर से गोंदू की दुर्दशा देखकर मुझे हँसी आ रही थी, लेकिन तभी मुझे लग गया कि मैंने कोई गलत काम कर दिया है। मैं गोंदू की खुशामद रात तक करता रहा लेकिन फिर भी मुझे शान्ति नहीं मिली।

ज़्यादा शरारतें करने पर मुझे बड़े भाई बाबा के कमरे में हाथ जोड़कर बैठने की सज़ा दी जाती थी। यह सज़ा तो और भी भयंकर होती। उधर बाबा सो जाते, खर्राटे भरने लगते। एक बार खर्राटा रोकने के लिए बाबा की नाक में धागा घुसाने की बात मेरे मन में आई। मैंने इधर-उधर देखा, धागा नहीं था। मैंने एक दिया-सलाई का ही प्रयोग कर डाला। बदले में मुझे तमाचे तो मिले ही, खुराफाती, उत्पाती जैसे विशेषण भी सुनने को मिले।

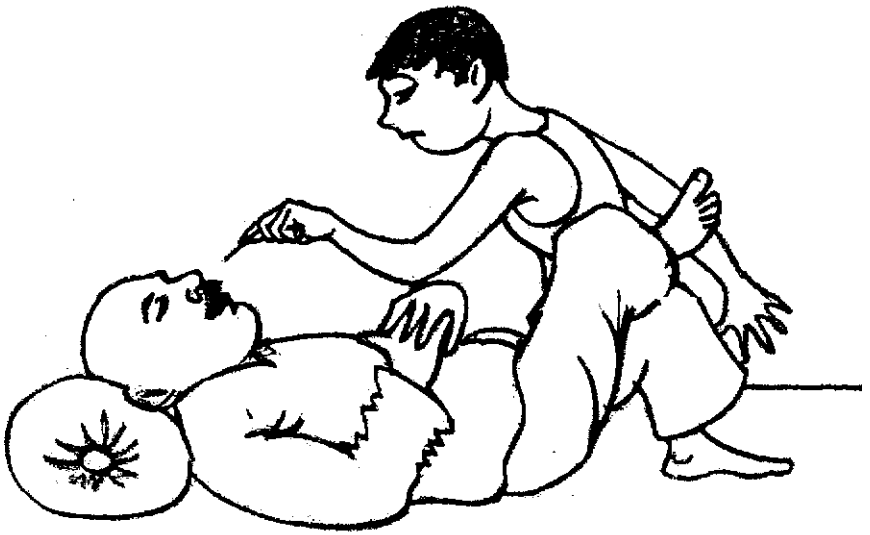

एक बार इसी तरह सज़ा काटते हुए मैं बाबा के कमरे से पेट के बल रेंगकर निकल भागा था। बाबा को पता नहीं चल पाया था। बाहर निकलकर अपनी बहादुरी का बखान मैंने गोंदू के सामने कर दिया। धीरे-धीरे बात भाभी के कानों में पहुँच गई। भाभी ने बाबा को बता दी। इसलिए अगली बार कमरे से भागने के लिए रेंगते-रेंगते जब मैं दरवाज़े तक पहुँचा, बाबा की आवाज़ सुनाई दी, "भागता कहाँ है चोर? लौटकर आ!"

सज़ा मिलने के बाद भी शरारतें तो चलती ही रहती थीं। एक बार ऐसा हुआ कि स्कूल जाने के समय केशू की दवात उलट गई। उसको बचाने के लिए मैंने कहा, "पिताजी के कमरे में एक बड़ी बोतल में स्याही रखी है। तुम उससे निकाल लो।" पिताजी को पता नहीं चले इसलिए उतना पानी मिला देने की सलाह भी मैंने दे दी। अब केशू और गोंदू में से किसी को भी स्याही गिरने की चिन्ता नहीं रही। बल्कि दवात से रोज़ स्याही लुढ़कने लगी। कई रोज़ बाद जब पिताजी की स्याही पानी जैसी हो गई तब पोल खुल गई और हमें डाँट पड़ी।

इसी तरह एक बार शादी के मौसम में पड़ोस में ही शादी थी। शहनाईवालों

ने हमारे दरवाज़े पर ही डेरा डाल लिया था। उनके बाजे से हमें बहुत परेशानी होती थी। हमने उनसे बात करने की कोशिश की तो उन्होंने कह दिया, "तुम्हारे पिताजी से पूछकर ही यहाँ बैठे हैं।"

तब मुझे एक उपाय सूझा। मैं कच्चा आम लेकर उनके सामने खाने बैठ गया। कच्चा आम देखकर बजाने वालों के मुँह में पानी भर आया और वह पानी शहनाई की जिह्वा में उतर गया। एक के बाद एक तीन जिह्वाओं में पानी भर जाने पर उनका शहनाई बजाना बन्द हो गया। वे खुद ही उठकर दूसरी जगह चले गए।

पाँच साल की उम्र तक मुझे घर से बाहर जाने ही नहीं दिया गया था। इसके पीछे उद्देश्य यह था कि कहीं बाहर जाकर मैं लड़कों से गालियाँ न सीख लूँ। घर पर ही खेल, शरारतें चलती रहतीं। भाभी, दादी कहानियाँ सुनातीं। जब केशू और गोंदू स्कूल जाने लगे, तब घर में रहना नीरस लगने लगा। मैं भी स्कूल जाने की ज़िद करने लगा।

एक बार पिताजी के ऑफिस जाने के बाद स्कूल जाने के लिए मैं इतना रोया कि माँ को नौकर के साथ मुझे स्कूल भेजना ही पड़ा। स्कूल में एक मास्टर साहब पेठे जी थे। उन्होंने मुझे प्यार से बुलाया, जेब से निकालकर बताशा दिया। रोज़-रोज़ मुझे बताशा मिलने लगा। छोटा होने के कारण स्कूल के लड़के भी मुझे प्यार करते। आखिर एक दिन मेरा नाम भी स्कूल में लिखवा दिया गया। घर का नौकर महादू मुझे छोड़ने जाता। कभी मैं उसे छोड़कर दौड़ जाता। उसे भी मेरे पीछे-पीछे दौड़ना पड़ता।

थोड़े समय बाद स्कूल में एक नए शिक्षक आए। वे बच्चों को बहुत पीटते थे। धीरे-धीरे मुझे पता चल गया कि स्कूल में पिटाई भी होती है। घर में इस पिटाई के बारे में तो मैं नहीं कहता, पर स्कूल जाने का उत्साह घटने लगा।

एक दिन स्कूल से लौटकर खाना खाते समय जब गरम चावल मैं नहीं छू पा रहा था तब भाभी को पता चल गया कि स्कूल में मेरी पिटाई हुई है। भाभी के पूछने पर भी मैंने पिटाई की बात नहीं बताई, पर भाभी तो समझ

ही गई थीं। उन्होंने शायद भैया को यह बात बता दी। अगले दिन स्कूल में पुलिस का एक आदमी आया और उस मास्टर को बुलाकर ले गया। लौटकर आने के बाद उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या तुमने घर जाकर कुछ कहा था?" मैंने कहा, "नहीं!"

अगले दिन वह मास्टर क्लास में नहीं आए। उनको हटा दिया गया था। दूसरे मास्टर आए। हालाँकि बच्चों को उस मास्टर से छुटकारा मिल गया था लेकिन मुझे हमेशा अफसोस रहा कि मेरी वजह से उनकी नौकरी चली गई! आगे से पिटाई होने पर भी मैंने घर में किसी को पता नहीं चलने दिया।

एक बार की बात है। मैं तब पहली कक्षा में ही पढ़ रहा था। मेरे घर के सामने अचानक आकर एक गाड़ी खड़ी हुई और उससे एक स्त्री उतरकर घर के अन्दर जाने लगी। मैं उस स्त्री को पहचानता नहीं था। घर के अन्दर वह उसी तरह चली गई जैसे यह उसी का घर हो! मैं भी अन्दर गया। तभी मुझे पता चला कि यह तो मेरी बड़ी बहन है जिसकी शादी हो गई थी। मैंने उसको कभी देखा तक नहीं था। मेरे भाई उसे अक्का कहते थे, मैं भी उसे अक्का कहने लगा।

अक्का मुझे पढ़ातीं, माँ को *राम विनय* पढ़कर सुनातीं। एक दिन अक्का ने मेरे तोते को देखकर कहा, "इसे छोड़ क्यों नहीं देते?" फिर उन्होंने मुझे नल-दमयन्ती की कहानी सुनाई और अपनी माँ, पत्नी और बच्चों की याद में हंस के विलाप के बारे में बताया। यह कहानी सुनाते-सुनाते अक्का रोने भी लगीं। मैंने तोते को आज़ाद कर देने की बात मान ली।

एक दिन टाइफाइड के कारण अक्का हम सबको छोड़कर चली गईं। इकलौती बहन को खोने पर हमें कितना दुख हुआ, यह कहने की चीज़ नहीं है। माँ की हालत तो और भी खराब हो गई। थोड़े दिनों बाद जब वे सम्हलीं तो मुझे ही बेटी की तरह प्यार करने लगीं। मुझे बेटी की तरह सजाने-सँवारने लगीं – चोटी गूँथने लगीं, बाल बनाने लगीं।

माँ के प्रति मेरी बहुत अधिक श्रद्धा थी। वे जो भी कहतीं, मुझे विश्वास हो जाता। माँ पढ़ी-लिखी नहीं थीं लेकिन घर-गृहस्थी, बच्चों की देखरेख,

सगे-सम्बन्धियों के स्वागत-सत्कार में निपुण थीं। वे जब मन्दिर जातीं तो भगवान से सुख-समृद्धि नहीं माँगतीं बल्कि यह कहतीं कि "हमारे हाथों किसी का बुरा न हो। तेरा स्मरण हमेशा करती रहूँ।" माँ की बात हमेशा के लिए मेरे मन में बैठ गई।

माँ की बात हमेशा मेरे लिए वेदवाक्य-सी रही है। उन्हीं की प्रेरणा से पिताजी के प्रति आदर-सम्मान मैंने बचपन से ही सीख लिया। पिताजी भी मेरा खूब ख्याल रखते थे। वे मुझे सम्हालते भी थे। मुझे नहलाना, खिलाना, सुलाना आदि ज़्यादातर काम पिताजी ही करते थे। पिताजी से मैं धर्म, देवता आदि के बारे में सवाल भी पूछता रहता था। एक बार थोड़ा बड़े होने पर मैंने शिवरात्रि का व्रत रखना चाहा। पिताजी ने समझाया, "शिवरात्रि का व्रत एक बार शुरू कर देने पर छोड़ना नहीं होता है। तुम बड़े होकर कॉलेज चले जाओगे तो इसे छोड़ ही दोगे!" मैंने विश्वास दिलाना चाहा कि यह व्रत कभी नहीं छोड़ूँगा, लेकिन उन्हें विश्वास नहीं होता था। आखिर उस शिवरात्रि के दिन मैंने खाना-पीना छोड़ ही दिया। बहुत कहने पर भी मैंने नहीं माना। तब पिताजी ने कुलदेवता के पास ले जाकर मुझे कसम खिलाई कि कॉलेज जाने पर यदि मैं नास्तिक भी बन जाऊँ तो भी इस व्रत को नहीं छोड़ूँगा।

पिताजी की तरह ही भाइयों की भक्ति करना भी माँ ने मुझे सिखाया था। मुझे उन्होंने लक्ष्मण के जैसा बनने को कहा था। मैंने कोशिश भी की। लेकिन दिक्कत यह थी कि लक्ष्मण का तो एक ही बड़ा भाई था, मेरे पाँच-पाँच बड़े भाई थे। और सभी राम की तरह थे भी नहीं। वे मेरे लक्ष्मण बनने का नाजायज़ लाभ उठाते। लेकिन पाँच-पाँच भाइयों के दबाव से मेरे व्यक्तित्व पर कुछ असर तो पड़ा ही! बचपन से ही मैं कल्पना की दुनिया में जीने लगा, प्रकृति से जुड़ने लगा। नदियों, तालाबों, पहाड़ों को देखता रहता, बादलों के बदलते रंग को देखता रहता और भाव विभोर हो जाता। रात में सितारों को देखता। इसी तरह मेरे प्रकृति-प्रेमी और घुमक्कड़ व्यक्तित्व का जन्म हुआ।

पिताजी अँग्रेज़ों की नौकरी करते थे। "जिसका नमक खाते हैं, उसे धोखा

नहीं देना है," इस सिद्धान्त को मानते थे, लेकिन मेरे मन में देशभक्ति की भावना उगने लगी थी। उन्हीं दिनों शिवाजी की जीवनी पढ़ने पर मैं शिवाजी का भक्त बन गया। कभी-कभार मैं केशू, गोंदू और दो-चार साथियों को इकट्ठा कर लेता और उनके सामने भाषण दिया करता। अन्य लड़के भी बारी-बारी से भाषण देते। भाषण में हम अँग्रेज़ों को गालियाँ देते और शिवाजी का गुणगान करते। अँग्रेज़ों से लड़ने के लिए हमने कसरत, कुश्ती करनी भी शुरू कर दी। रोज़-रोज़ की खबरों से हमारा मन उत्तेजित होता। ऐसे में एक दिन ऐसा भी आया जब अँग्रेज़ों से लड़ने का प्रण भी मैंने ले लिया।

उस समय मैं तेरह-चौदह साल का रहा हूँगा। हम लोग पूना में रह रहे थे। पूना में प्लेग फैला हुआ था। अचानक एक दिन हमारे घर में भी प्लेग घुस आया और तीसरे भाई विष्णु को ले डूबा। दूसरे दिन कलेक्टर से किसी ने शिकायत कर दी कि घर में प्लेग होने की बात पिताजी ने छुपाकर रखी। अपनी सफाई देने जब पिताजी कलेक्टर के पास गए तो पता नहीं क्यों मुझे भी साथ ले लिया। पिताजी कलेक्टर के सामने हाथ जोड़कर खड़े हो गए और गिड़गिड़ाने लगे। कलेक्टर ने उनकी सफाई सुनने के बदले उन्हें दुत्कार दिया।

उस दिन पिता का असहाय चेहरा और कलेक्टर का वह रूप मेरे मन में भयानक रूप से बगावत खड़ी कर बैठा। मैंने उसी क्षण प्रतिज्ञा की, "इन गोरों का राज मैं तोड़ डालूँगा। ज़िन्दगी में और कुछ करूँ या नहीं, यह काम करता रहूँगा।"

❖

रामानुजन

यही मेरी पढ़ाई थी और खेल भी

तमिलनाडु के ऐतिहासिक नगर तन्जोर के पास एक जगह है ईरोड। यहाँ के लोग नारियल के बागों और धान के खेतों में मेहनत-मज़दूरी करके जीने वाले लोग थे। मेरे पिता श्रीनिवास आयंगर के पास न तो खेत थे, न ही नारियल के बाग। ब्राह्मण होने के कारण उन्हें मज़दूरी भी नहीं मिलती थी। पुरोहिती करना उन्हें पसन्द नहीं था। ऐसे में नौकरी की तलाश में वे कुम्भकोणम पहुँच गए। वहाँ कपड़े की एक दुकान में मुनीम हो गए। वहीं 1887 में मेरा जन्म हुआ।

मेरे पिताजी अपना काम ईमानदारी से करते थे। दुकानदार को लाभ कमाते देख भी कभी उनके मन में लाभ कमाने की बात नहीं आई। वे सुबह से लेकर रात तक दुकान के काम में जुटे रहते। थके-हारे घर आते तो वहाँ भी हिसाब-किताब, रोकड़-बही की बातें करते। मैं पिता की प्रतीक्षा में जगा रहता। उनकी बातें सुनता रहता। धीरे-धीरे मुझे भी उन बातों में मज़ा आने लगा।

थोड़ा बड़ा होने पर मैं कस्बे में घूमने-घामने लगा। चारों ओर ऊँचे-ऊँचे पेड़ दिखाई देते। लोग उन पर चढ़ते-उतरते रहते। उन्हें देखकर मुझे लगता, अब वे आधी दूरी पार कर गए, अब चोटी पर पहुँच गए। मैं यह भी अन्दाज़ा लगाने की कोशिश करता कि यह पेड़ कुछ छोटा हो जाए और दूसरा कुछ बड़ा तो दोनों बराबर हो जाएँ। मैं पेड़ों को आँखों से ही नापने की कोशिश करता।

कभी मैं भेड़ों के झुण्डों को गिनने की कोशिश करता। कभी भेड़ें भागने

लगतीं और चरवाहे परेशान हो जाते तो मैं ठीक-ठीक गिनकर भेड़ों की संख्या उन्हें बता देता। यही मेरी पढ़ाई थी और यही खेल भी था। घर में पढ़ाई की कोई खास व्यवस्था नहीं थी। पहाड़े, जोड़-घटाव, गुणा-भाग मुझे सिखलाए गए। मैं पाँच-छह वर्ष का होते-होते लम्बे-लम्बे जोड़ लगाने लगा। फिर खुद ही बड़ी-बड़ी संख्याएँ लिखता, उनको जोड़ता-घटाता। इस खेल में मुझे मज़ा आता।

मैं जब सात वर्ष का हुआ, मेरा नाम कुम्भकोणम हाई स्कूल में लिखवा दिया गया। स्कूल जाने के लिए मेरे कपड़े विशेष रूप से धोए गए थे। पैरों में चप्पलें नहीं थीं, फिर भी कई मील दूर पैदल चलकर मैं स्कूल पहुँचा था। स्कूल में पढ़ने में मेरा बहुत मन लगता था। मेरा मन सबसे अधिक गणित के पीरियड में लगता था। मास्टर साहब से सवाल हल करने की विधि सीखकर मैं दूसरी विधि भी निकालने की कोशिश करता।

गणित के अलावा दूसरे विषयों में मेरा मन विशेष नहीं लगता था। बाकी विषयों की कक्षाओं में भी मैं गणित के सवाल ही हल करता रहता था। एक बार इतिहास की कक्षा में मास्टर साहब ने कोई सवाल पूछ लिया तो मैं जवाब नहीं दे सका। मेरा ध्यान तो गणित के सवालों में लगा हुआ था।

गणित की कक्षा में एक बार मास्टर साहब ने बताया कि किसी संख्या को उसी संख्या से भाग दें तो भागफल एक होता है। उन्होंने उदाहरण देकर इसे समझाया भी। मैंने खड़े होकर कहा कि शून्य को शून्य से भाग दें तो भागफल कुछ नहीं होगा। लेकिन मास्टर साहब शून्य बटा शून्य भी एक ही बताते रहे। मैंने फिर कहा, "शून्य बटे शून्य का कोई अर्थ नहीं होता। इसलिए शून्य बटा शून्य एक नहीं होगा।"

मास्टर साहब ने मुझे डाँटकर बैठा दिया, लेकिन मुझे उस समय भी अपनी बात पर विश्वास था।

दूसरे विषयों के शिक्षक मुझे अच्छा विद्यार्थी नहीं समझते थे। लेकिन मैं गणित में लगातार आगे बढ़ता रहा। घर से बहुत कम खाकर स्कूल जाता। अक्सर तो मैं कॉफी के बीज पानी में उबालकर तथा उस घोल को नमक के साथ पीकर ही स्कूल चला जाता और दिन भर भूखे पढ़ता रहता। इसी

तरह 1903 के दिसम्बर में मैंने मद्रास यूनिवर्सिटी से मैट्रिक की परीक्षा पास कर ली। गणित में मुझे बहुत अच्छे अंक मिले। अँग्रेज़ी में उससे कम और दूसरे विषयों में बस पास मार्क्स! मेरे पास होने की घर वालों को बस इतनी ही खुशी हुई कि अब मुझे किसी दफ्तर में क्लर्क की नौकरी मिल जाएगी।

1904 के आरम्भ में मैं कुम्भकोणम गवर्नमेंट कॉलेज में पढ़ने लगा। वहाँ भी वही हाल रहा, लेकिन वज़ीफा मिल जाने से समस्या कुछ दूर हुई। कॉलेज में भी मुझे गणित को छोड़कर दूसरे विषय पढ़ने का मन नहीं करता था। इस वजह से मैं एफ.ए. में फेल हो गया। मैं अठारह साल का था, घर से भाग गया। सोचा था कि कहीं जाकर ट्यूशन कर लूँगा और उसी खर्च से गुज़ारा कर लूँगा। घर के अपमान से बचने के लिए मैं भागा था, लेकिन भागने पर कदम-कदम पर अपमान मिलने लगा। कोई मुझे आवारा समझता, कोई भिखारी। जब घर की याद मुझे बुरी तरह सताने लगी तो मैं घर लौट आया। अब मैं मद्रास के एक कॉलेज में भर्ती हो गया। लेकिन परीक्षा में फिर वही परिणाम हुआ – गणित में अच्छे अंक, अँग्रेज़ी में पास और बाकी विषयों में फेल!

अब मैं चुपचाप घर में पड़ा रहता। कोई मुझसे सीधे मुँह बात भी नहीं करता था। उन्हीं दिनों मेरे एक मित्र ने एक किताब लाकर दी जिसमें गणित के ढेर सारे सूत्र संग्रहीत थे। मैं उन सूत्रों को हल करने लगा और उसी तरह के सूत्र बनाने लगा।

बीस वर्ष की उम्र में मेरी शादी कर दी गई। अब मुझे नौकरी की चिन्ता सताने लगी। मैं पोर्ट-ट्रस्ट के दफ्तर में क्लर्क बन ही गया। दफ्तर में काम करते हुए भी मैं गणित में उलझा रहता। दोपहर में लंच के समय जब सभी लोग उठकर चले जाते, मैं कागज़ पर सवाल हल करता रहता। एक दिन एक अँग्रेज़ अफसर ने मुझे ऐसा करते देख लिया। वे इससे प्रभावित हुए। उन्होंने अपने मित्र के साथ मिलकर मुझे इंग्लैण्ड जाने को प्रेरित किया। इंग्लैण्ड जाने में उन्होंने मेरी मदद भी की। मैं कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय चला गया। वहाँ गणित की पढ़ाई और खोज में मुझे बहुत सुविधा मिली।

❖

चार्ली चैपलिन

स्टेज पर वह माँ की आखिरी रात थी

मैं तब साढ़े तीन बरस का था। सिडनी, मेरा भाई, मुझसे चार बरस बड़ा था। माँ थिएटर कलाकार थीं, हम दोनों भाइयों को बहुत प्यार से लिटाकर थिएटर चली जाती थीं। नौकरानी हमारी देखभाल किया करती थी। रोज़ रात को थिएटर से लौटकर माँ हम दोनों भाइयों के लिए खाने की अच्छी-अच्छी चीज़ें मेज़ पर ढँककर रख देती थीं। सुबह उठकर हम दोनों खा लेते थे और बिना शोर मचाए माँ को देर तक सोने देते थे।

सिडनी हाथ के करतब दिखाना जानता था। एक बार उसने दिखाया कि वह सिक्का निगलकर अपने सिर के पीछे से निकाल सकता है। बस मैंने उसकी नकल कर डाली। मैंने एक सिक्का निगल लिया। माँ को डॉक्टर बुलवाना पड़ा।

मेरी स्मृति में पिता भी हैं जो माँ के साथ नहीं रहा करते थे, और दादी भी जो हमेशा मेरे साथ छोटे बच्चों जैसी बातें किया करती थीं। उनका घर का नाम स्मिथ था। मैं छह साल का भी नहीं हुआ था कि वे चल बसीं।

माँ को कई बार मजबूरी में भी काम पर जाना पड़ता था। सर्दी-ज़ुकाम के चलते गला खराब होने पर भी उन्हें गाना पड़ता था। इससे उनकी आवाज़ खराब होती गई। स्टेज पर गाते हुए उनकी आवाज़ कभी-कभी गायब हो जाती और फुसफुसाहट में बदल जाती। श्रोता चिल्लाना और माँ का मज़ाक उड़ाना शुरू कर देते। इस चिन्ता में माँ मानसिक रूप से बीमार जैसी होने लगीं। उनको थिएटर से बुलावा आना भी बन्द होने लगा।

माँ की इस परेशानी की वजह से केवल पाँच वर्ष की उम्र में ही मुझे स्टेज पर उतरना पड़ा। माँ उन दिनों मुझे भी अपने साथ थिएटर ले जाया करती थीं। एक बार गाते-गाते माँ की आवाज़ फट गई और फुसफुसाहट में बदल गई। श्रोतागण कुत्ते और बिल्लियों की आवाज़ें निकालने लगे। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या हो रहा है। माँ स्टेज छोड़कर चली गईं। स्टेज मैनेजर माँ से मुझे स्टेज पर भेज देने की बात कर रहा था। उसने माँ की सहेलियों के सामने मुझे अभिनय करते देखा था। स्टेज मैनेजर मुझे स्टेज पर लेकर चला ही गया और मेरा परिचय देकर वापस लौट गया। मैं गाने लगा। गाने के बीच में ही सिक्कों की बरसात होने लगी। मैंने सिक्कों को बटोरना ज़्यादा ज़रूरी समझा और दर्शकों से साफ-साफ कह दिया कि पहले मैं सिक्के बटोरूँगा, फिर गाऊँगा। इस बात पर दर्शक ठहाके लगाने लगे। स्टेज मैनेजर एक रूमाल लेकर स्टेज पर आया और सिक्के बटोरने में मेरी मदद करने लगा। मुझे लगा कि वह मेरे सिक्के ले लेगा, सो दर्शकों से भी यह बात मैंने कह दी। इस बात पर ठहाकों का दौर ही चल पड़ा। स्टेज मैनेजर जब सिक्के बटोरकर जाने लगा तब मैं भी उसके पीछे-पीछे चल पड़ा। सिक्के की पोटली माँ को सौंपे जाने पर ही मैं वापस स्टेज पर आया। फिर जमकर नाचा, गाया। मैंने तरह-तरह की नकल करके दिखाई।

अपने भोलेपन में मैं माँ की खराब आवाज़ और फुसफुसाहट की भी नकल कर बैठा। लोगों को इससे और अधिक मज़ा आया और वे फिर सिक्के बरसाने लगे। मैं अपने जीवन में पहली बार स्टेज पर उतरा था और वह स्टेज पर माँ की आखिरी रात थी।

यहीं से हमारे जीवन में अभाव का आना शुरू हो गया। माँ की जमा पूँजी धीरे-धीरे खत्म होती गई। हम तीन कमरों वाले मकान से दो कमरों वाले मकान में आए, फिर एक कमरे के मकान में। हमारा सामान भी धीरे-धीरे बिकता गया। माँ को स्टेज के अलावा कुछ आता नहीं था, लेकिन उन्होंने सिलाई का काम शुरू कर दिया। इससे कुछ पैसे हाथ में आने लगे। घर का सामान तो धीरे-धीरे बिक ही गया, पर माँ थिएटर की पोशाकों वाली

पेटी सम्हाले हुई थीं। शायद कभी उनकी आवाज़ वापस आ जाए और उन्हें थिएटर में काम मिलना शुरू हो जाए। उन पोशाकों को पहनकर माँ तरह-तरह के अभिनय कर मुझे दिखलातीं। ढेर सारे गीत और संवाद सुनातीं। अपनी अज्ञानता में मैं माँ को फिर से स्टेज पर जाने को कहता। माँ मुस्कुरातीं और कहतीं, "वहाँ का जीवन नकली है, झूठा है।"

हमारी गरीबी की कहानी यह थी कि सर्दियों में पहनने के लिए कपड़े नहीं बचे थे। माँ ने अपने पुराने रेशमी जैकेट को काटकर सिडनी के लिए एक कोट सी दिया। सिडनी वह कोट देखकर रो पड़ा। माँ के समझाने-बुझाने पर वह कोट पहनकर स्कूल तो चला गया लेकिन लड़के उसे चिढ़ाने लगे। माँ की ऊँची एड़ी की सैंडिलों को काट-छाँटकर बनाए गए सिडनी के जूते भी कम मज़ाक के पात्र नहीं थे! और माँ के पुराने लाल मोज़ों को काटकर बनाए मोज़ों को पहनकर जाने की वजह से लड़कों ने मेरा भी खूब मज़ाक बनाया था।

इतनी तकलीफों को सहते-सहते माँ को आधासीसी सिरदर्द की शिकायत शुरू हो गई। उन्हें सिलाई का काम भी छोड़ देना पड़ा। अब हम गिरिजाघरों की खैरात पर पल रहे थे, दूसरों की मदद के सहारे जी रहे थे। सिडनी अखबार बेचकर इस गरीबी के विरुद्ध थोड़ा लड़ रहा था। ऐसे में एक चमत्कार जैसा हुआ। अखबार बेचते हुए बस के ऊपरी तल्ले की एक खाली सीट पर उसे एक बटुआ पड़ा हुआ मिला। बटुआ लेकर वह बस से उतर गया। सुनसान जगह पर जाकर उसने बटुआ खोला तो देखा कि उसमें चाँदी और ताँबे के सिक्के भरे पड़े हैं। वह घर की तरफ भागा। माँ ने बटुए का सारा सामान बिस्तर पर उलट दिया। बटुआ अब भी भारी लग रहा था। बटुए के भीतर भी एक जेब थी। माँ ने उस जेब को खोला तो देखा कि उसके अन्दर सोने के सात सिक्के छुपे हुए हैं। हमारी खुशी का ठिकाना नहीं था। बटुए में किसी का पता भी नहीं था इसलिए माँ की झिझक थोड़ी कम हो गई। माँ ने इसे ईश्वर के वरदान के रूप में ही देखा।

धीरे-धीरे हमारा खज़ाना खाली हो गया और हम फिर से गरीबी की ओर बढ़ गए। कहीं कोई उपाय नहीं था। माँ को कोई काम नहीं मिल रहा था।

उनका स्वास्थ्य भी ठीक नहीं चल रहा था। इसलिए उन्होंने तय किया कि हम तीनों यतीमखाने में भरती हो जाएँ।

यतीमखाने में भी कम कठिनाइयाँ नहीं थीं। कुछ दिनों बाद हम वहाँ से निकल आए। सिडनी जहाज़ पर नौकरी करने चला गया। माँ फिर से कपड़े सीने लगीं। मैं कभी फूल बेचने जाता तो कभी कागज़ के खिलौने बनाता। किसी तरह गुज़ारा हो रहा था।

एक दिन मैं बाहर से आ रहा था कि गली में बच्चों ने बताया, "तुम्हारी माँ पागल हो गई हैं।" उन्हें पागलखाने में भरती करवाना पड़ा। सिडनी जहाज़ की नौकरी छोड़कर चला आया। उसके पास जो पैसे थे वह माँ को देना चाहता था। लेकिन माँ की स्थिति ऐसी नहीं थी कि उस पैसे को ले पातीं। जहाज़ से लौटकर सिडनी ने नाटकों में काम करना शुरू कर दिया। मैंने कई तरह के काम किए – अखबार बेचे, खिलौने बनाए, किसी डॉक्टर के यहाँ नौकरी की, काँच गलाने का काम किया, बढ़ई की दुकान पर रहा। इन कामों से जब भी समय बचता मैं किसी नाटक कम्पनी के चक्कर लगा आता। लगातार आते-जाते आखिर एक दिन एक नाटक में मुझे काम मिल ही गया। मुझे मेरा रोल दिया गया। मैं उसे पढ़ना ही नहीं जानता था। उसे लेकर मैं घर आया। सिडनी ने बड़ी मेहनत की और तीन ही दिनों में मुझे अपना रोल रटवा दिया।

नाटकों का यह हाल था कि कभी प्रशंसा मिलती तो कभी टमाटर भी फेंके जाते। ऐसे में एक दिन मैंने अमरीका जाने का निश्चय कर लिया। सिडनी के लिए चिट्ठी छोड़कर एक नाटक कम्पनी के साथ अमरीका चला गया। वहाँ कई नाटक किए। एक नाटक में मेरा काम देखकर एक व्यक्ति ने फैसला किया कि जब कभी वह फिल्में बनाएगा मुझे ज़रूर लेगा। बहुत दिनों बाद ही सही वह दिन आया और मैक सीनेट नाम के उस व्यक्ति ने मुझे ढूँढ निकाला। अपनी 'की-स्टोन कॉमेडी कम्पनी' में नौकरी दी। फिल्मों का यह काम मेरे पिछले कामों से बिलकुल अलग था। एक बार शूटिंग करते वक्त निर्देशक ने कहा, "कुछ मज़ा नहीं आ रहा है। तुम कोई कॉमिक मेकअप करके आ जाओ।"

मैं ड्रेसिंग रूम में गया। इधर-उधर देखा। पास ही एक ढीली-ढाली पतलून थी। मैंने उसे पहन लिया। उस पर एक खराब-सा बेल्ट बाँध लिया। ढूँढ-ढाँढकर एक चुस्त कोट पहन लिया। अपने पैरों से बहुत बड़े जूते पहन लिए। छोटी-सी टोपी सिर पर डाल ली। बूढ़ा दिखने के ख्याल से टुथब्रश जैसी मूँछें लगा लीं। एक पतली-सी छड़ी को उठा लिया। आइने में देखने पर मैं खुद को ही नहीं पहचान पा रहा था। छड़ी लहराते और कमर लचकाते जब मैं बाहर आया तो लोग ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगे, ठहाके लगाने लगे। लोगों की हँसी की आवाज़ सुनकर जब निर्देशक ने मेरी ओर देखा तो वह खुद भी पेट पकड़कर हँसने लगा। हँसते-हँसते उसे खाँसी होने लगी।

यही मेरा वह रूप था जो मेरे साथ हमेशा चिपका रहा, लोगों की तारीफें पाता रहा।

❖

भीमराव अम्बेडकर

मैं माँ के सपने पूरे करना चाहता था

मध्यप्रदेश के महू नामक कस्बे में 14 अप्रैल 1891 को मेरा जन्म हुआ था। मैं अपने माता-पिता की चौदहवीं सन्तान था। मुझसे पहले दो भाई और दो बहनें ही जीवित थीं। मेरे पिता का नाम रामजी राव और माता का नाम भीमा बाई था। पिता सेना में काम करते थे। पन्द्रह वर्ष नौकरी करने के बाद जब वे रिटायर हो गए तब उनके सामने परिवार चलाने की समस्या आ गई। वे महू से सतारा आ गए और एक कम्पनी में चौकीदारी का काम करने लगे। किसी तरह हमारे परिवार का गुज़ारा होने लगा।

सतारा में आकर ही पहली बार मुझे छुआछूत का सामना करना पड़ा। मेरे भाई-बहन इस समस्या से रूबरू हो चुके थे, इसलिए ऊँची जाति वालों से दूर ही रहते थे। लेकिन मुझे इसका कोई पता नहीं था, अतः मैं आसपास के बच्चों के साथ खेलने को दौड़ पड़ता था। आसपास के बच्चे भी मेरे साथ खेलने आ जाते थे, लेकिन तभी पीछे से कोई पकड़कर उन्हें ले जाता था। उन्हें कहा जाता था कि यह अछूत है, इसके साथ मत खेलो। कभी-कभी कोई बच्चा ही आगे बढ़कर कह देता, "तुम अछूत हो, मेरे साथ नहीं खेल सकते।" मैं रोते हुए घर आता तो माँ मुझे समझातीं, "तुम अपने भाई-बहनों के साथ खेला करो। वे ऊँची जाति के हैं, वे तुम्हारे साथ नहीं खेलेंगे।" मेरी समझ में नहीं आता कि क्या बात है, लेकिन मैं माँ की बात से चुप हो जाता।

अछूत होने के कारण नाई भी मेरे बाल काटने से इन्कार कर देता। मेरी बहन घर में ही मेरे बाल काटती।

छह साल की उम्र में जब मुझे स्कूल भेजने की बात उठी तब यह समस्या और बड़ी नज़र आई। कोई स्कूल मुझे दाखिला देने को तैयार नहीं होता। पिताजी परेशान हो लौट आते। माँ उनसे बार-बार स्कूल के बारे में पूछतीं। एक दिन पिताजी ने कह दिया, "एक हेडमास्टर दाखिला देने को तैयार तो हो गया है, लेकिन उसने एक शर्त लगा दी है।"

माँ के पूछने पर पिताजी ने शर्त के बारे में बताया। शर्त यह थी कि मैं किसी लड़के के पास नहीं बैठूँ बल्कि जहाँ लड़के अपने जूते खोलते थे, वहाँ बैठूँ। मुझे अपने साथ अपनी टाट-पट्टी भी ले जानी थी।

माँ-पिताजी बात ही कर रहे थे कि मैं वहाँ आ गया। उनकी बातें सुनकर मैंने कहा, "मैं जूतों के पास बैठकर पढ़ लूँगा, बस मेरा दाखिला करवा दो!"

मेरी बात सुनकर पिताजी रो पड़े। माँ ने मुझे छाती से चिपटा लिया। माँ भी रो रही थीं।

अगले दिन मैं स्कूल चला गया। लड़कों के जूते हटाकर मैं दरवाज़े के पास अपनी टाट-पट्टी बिछाकर बैठ गया। शिक्षक और लड़कों को लग रहा था कि शायद उनके जूते छू गए हैं। खैर मैं रोज़ स्कूल जाने लगा। स्कूल में छात्र और शिक्षक मुझसे अलग ही रहते। मैं भी हमेशा ख्याल रखता कि कोई छात्र या कोई सामान मुझसे छू न जाए। टिफिन के समय जिधर और लड़के होते उसकी दूसरी तरफ मुँह कर मैं खाता।

स्कूल से घर दूर था। मैं सुबह घर से निकलता और शाम को वापस आता। मैं पढ़ाई में अच्छा था। हेडमास्टर भी मेरी तारीफ करते। धीरे-धीरे कक्षा पार कर मैं पाँचवीं में पहुँच गया।

उन्हीं दिनों मेरी माँ बीमार पड़ गईं। घरेलू उपचार से वे ठीक नहीं हो पा रही थीं। एक अच्छे वैद्य को बुलाना ज़रूरी था। लेकिन कोशिश करने पर भी कोई वैद्य माँ को देखने नहीं आ सका। ऊँची जाति के वैद्य महार जाति के रोगी के घर कैसे आ सकते थे? लिहाज़ा माँ की बीमारी बढ़ती गई। वे मर गईं। उनकी मृत्यु से मैं इतना आहत हुआ कि खाना-पीना छोड़ दिया। जबकि मुझे भूख बहुत तेज़ लगा करती थी और माँ मुझे हर हाल

में खाना खिलाती थीं। मुझे इस हाल में देखकर पिताजी ने मुझे समझाया। उन्होंने माँ के सपने के बारे में कहा। माँ मुझे बड़ा आदमी बनाना चाहती थीं। इसके लिए पढ़ाई ज़रूरी थी। पिताजी के समझाने पर मैंने खाना खाया और फिर से पढ़ाई-लिखाई में लग गया।

माँ की मृत्यु के बाद मैं बिना खाना लिए ही स्कूल जाने लगा। मैं ग्यारह-बारह साल का ही था, लेकिन खाने के अभाव में पढ़ाई को नुकसान नहीं होने देने का संकल्प मैंने लिया।

मेरे स्कूल के हेडमास्टर ब्राह्मण थे। सामाजिक व्यवस्था में बँधे होने के बावजूद वे दयालु स्वभाव के थे। मुझे भूखा रहता देख उन्हें दया आ गई और वे अपने पास से मुझे रोटी देने लगे। हालाँकि वे सब्ज़ी एक दोने में रखकर दूर से ही देते थे और रोटी भी दूर से ही मेरे हाथों पर गिरा देते थे, लेकिन फिर भी उनका यह काम आलोचना का विषय बना। लड़के आपस में कानाफूसी करते, "ब्राह्मण होते हुए भी हेडमास्टर महार जाति के लड़के के लिए रोटी बनाकर लाते हैं! पागल हो गए हैं।" वगैरह-वगैरह! मुझे इन बातों से बड़ी घृणा होती। गुस्सा भी आता लेकिन मैं माँ की बात याद कर चुप रह लेता। माँ ने मुझे एक बार समझाया था, "अछूत होने की वजह से तुम्हें समाज में बहुत अपमान झेलने पड़ेंगे। बिना इसकी परवाह किए तुम पढ़ाई पर ध्यान देना। बड़ा आदमी बनकर तुम्हें समाज की इस कुरीति को बदलना है।" मैं माँ की बात याद करता और चुप हो जाता। माँ ने मुझे बिना भड़के आगे बढ़ते रहने की सीख भी दी थी।

पाँचवीं कक्षा के बाद मुझे दूसरे स्कूल में दाखिला लेना था। मेरे अंक अच्छे थे, इसलिए मुझे एलफिंस्टन हाई स्कूल में दाखिला मिल गया। लेकिन समस्या फीस की थी। घर में गरीबी थी। पिताजी ने अपनी पीतल की परात एक महाजन के यहाँ गिरवी रख दी। पिताजी उस परात को कभी छुड़ा नहीं पाए।

नए स्कूल में दाखिला करवाकर पिताजी प्राइमरी स्कूल के हेडमास्टर के पास प्रमाण पत्र के लिए गए। मैं भी उनके साथ था। पिताजी ने हेडमास्टर का आभार जताया। हेडमास्टर मुझसे वैसे भी खुश रहते थे। प्रथम श्रेणी

में पास होने से वे और भी खुश थे। उन्होंने मेरा प्रमाण पत्र बनाया। उसमें मेरा पूरा नाम लिखा – भीमराव अम्बेडकर। एक ब्राह्मण का आशीर्वाद मानकर पिताजी ने मेरा यह नाम स्वीकार कर लिया।

हेडमास्टर के प्रति श्रद्धा जताने के लिए मैं उनके पैर छूने को आगे बढ़ा, लेकिन मुझे याद आया कि मैं तो उन्हें छू नहीं सकता। गुरुजी अपवित्र हो जाते, इसलिए मैं रुक गया। मैंने उनसे क्षमा माँगते हुए कहा, "मैं आपके चरण नहीं छू सकता, अछूत जो हूँ!"

गुरुजी ने मुझे खूब आशीर्वाद दिया। चलते-चलते उन्होंने मुझसे पूछा, "तुमने पाँच साल तक जूतों की जगह बैठकर पढ़ाई की, अपमान सहे, भूखे रहे, फिर भी पढ़ाई से मुँह नहीं मोड़ा। आखिर पढ़ाई में ऐसी क्या बात है?"

मैंने कहा, "गुरुजी, मैं पढ़-लिखकर एक नया कानून बनाऊँगा। वह कानून अछूतों को समाज में ऊँचा स्थान दिलाएगा।"

मैं एलफिंस्टन हाई स्कूल में पढ़ने लगा। अपमानजनक स्थितियाँ यहाँ भी थीं। एक बार भूगोल की कक्षा में शिक्षक ने मुझे ब्लैक बोर्ड पर भारत का मानचित्र बनाने को कहा। मैं जैसे ही उठा, एक लड़के ने मुझे रोक दिया। लड़के ने शिक्षक से कहा, "सभी लड़के ब्लैक बोर्ड के पीछे अपना-अपना खाना रखते हैं, खाना छू जाएगा।" लड़कों ने अपना-अपना खाना वहाँ से हटाया, तब जाकर मैंने मानचित्र बनाया।

हाई स्कूल पास करने के बाद मेरे सामने आगे पढ़ाई की समस्या थी। पिताजी बूढ़े हो चले थे। घर में गरीबी तो थी ही। उधार तक देने वाला कोई नहीं था। न ही गिरवी रखने को घर में कुछ था। ऐसे में मेरी एक ईसाई मित्र कैलुस्कर ने मुझे महाराजा बड़ौदा से मिलने की सलाह दी। मैं महाराजा से मिला। ऊँची जाति का होने के बावजूद उन्होंने मेरी बातें सहानुभूतिपूर्ण ढंग से सुनीं। उन्होंने मुझे पच्चीस रुपए मासिक का वज़ीफा दिलवा दिया। मैंने कॉलेज में दाखिला ले लिया। मेरी पढ़ाई एक बार फिर ढंग से चलने लगी।

❖

माओ त्से-तुंग

कम उम्र में पढ़ ली थीं विद्रोह की कहानियाँ

मेरा जन्म 26 दिसम्बर 1893 को हुनान के स्यांग ज़िले के शाओशान गाँव में हुआ। मेरे पिता माओ रेन-शेंग गरीब किसान थे। मजबूरी में उन्हें सेना में भर्ती होना पड़ा था। सेना से लौटकर उन्होंने छोटे-मोटे व्यवसाय और काम-धन्धों से कुछ धन जमा किया और अपनी ज़मीन छुड़ाई। उस समय पिताजी के पास कोई ढाई एकड़ ज़मीन थी। इससे इतना धान पैदा हो जाता था कि खा-पीकर करीब सोलह क्विंटल धान बच जाता था। कुछ समय बाद इस बची हुई पूँजी से पिताजी ने और ज़मीन खरीद ली। धीरे-धीरे वे समृद्ध होते गए। वे अनाज खरीदने-बेचने का भी धन्धा करने लगे। इससे भी कुछ पैसे बच जाते थे। खेती पर वे बहुत ध्यान देते थे। उन्होंने एक मज़दूर भी रख लिया। इसके अलावा मेरी माँ और भाई भी खेतों में काम करते थे। मैं भी छह साल की उम्र से ही खेतों में काम करने लगा था।

जब मैं आठ साल का था तो गाँव की प्रारम्भिक पाठशाला में मेरा नाम लिखाया गया। तेरह साल की उम्र तक मैं वहाँ पढ़ता रहा। मैं सुबह-शाम खेतों में काम करता, दिन में पढ़ाई करता। चीनी भाषा के शिक्षक डण्डे से काम लेते थे, इस कारण मैं एक बार स्कूल से भाग गया था। पिटाई का डर था, इसलिए घर न जाकर मैं शहर की ओर चल पड़ा। मुझे रास्ता मालूम ही नहीं था, मैं भटक गया और तीन दिन तक चक्कर काटता रहा।

आखिर घरवालों ने जब मुझे ढूँढा तो पता लगा मैं ज़्यादा दूर नहीं जा पाया था। घर आने के बाद से पिताजी मुझसे सहानुभूति से पेश आने लगे और शिक्षक भी थोड़े मुलायम पड़ गए। एक तरह से मेरी इस 'हड़ताल' का अच्छा असर पड़ा था।

मेरे पिताजी कठोर स्वभाव के थे। मुझे और मेरे भाइयों को हमेशा पीटते। कभी पैसे नहीं देते। देते भी तो एकदम कम। हम लोगों से खूब काम करवाते। कभी खाली बैठे देख लेते तो गुस्साते। जब मैं जोड़-घटाव सीख गया तो उन्होंने हिसाब-किताब सम्हालने की ज़िम्मेदारी भी मुझे दे दी।

मेरी माँ बहुत अच्छी थीं। दयालु, उदार! गरीबों पर दया करने वाली। अकाल के दिनों में वे किसी के माँगने पर चावल दे देतीं। लेकिन यह काम वे पिताजी से छुपकर करती थीं।

इस तरह हमारा परिवार दो दलों में बँटा हुआ था। एक शासक दल, जिसमें मेरे पिता थे। दूसरा विरोधी दल, जिसमें मेरी माँ, मैं और मेरे भाई थे।

जब मैं तेरह साल का हुआ तो पिताजी से बहस करने लगा। मैं उन्हें धर्मग्रन्थों का उदाहरण देते हुए कहता कि बड़ों को दयालु होना चाहिए। जब वे मुझे काहिल कहते तो मैं कहता, "बड़ों को बच्चों से ज़्यादा काम करना चाहिए।"

हमारा विवाद बढ़ता ही जाता। एक बार अतिथियों के सामने उनसे अपमानित होकर मैं घर से भाग निकला। माँ-पिताजी मेरे पीछे-पीछे दौड़े। किसी तरह मैं घर वापस आया।

बचपन में मैंने पुरातन ग्रन्थों को काफी पढा था, लेकिन मुझे वे पसन्द नहीं थे। मुझे चीन की रूमानी कहानियाँ, विशेष रूप से विद्रोह की कहानियाँ अधिक अच्छी लगती थीं। *यो फेई कथाएँ*, *दरिया का किनारा* तथा *तीन रजवाड़े* जैसी किताबें मैंने बहुत कम उम्र में पढ़ ली थीं। मैं इन किताबों को पुरातन ग्रन्थों के बीच में रखकर पढ़ा करता था। इन किताबों को पढ़ने से स्कूल के शिक्षक मना करते थे। लेकिन स्कूल के ज़्यादातर लड़के इन किताबों को पढ़ते और इनके बारे में आपस में बातचीत करते थे। मुझे

लगता है उस उम्र में पढ़ी गई इन किताबों ने मेरे ऊपर बहुत प्रभाव डाला था।

तेरह वर्ष की उम्र में स्कूल की पढ़ाई छोड़कर मैं पूरी तरह खेतों में ही काम करने लगा। रात में मैं अपनी पसन्द की किताबें पढ़ता। पिताजी चाहते थे कि मैं पुरातन पुस्तकें ही पढ़ूँ क्योंकि इन्हीं पुस्तकों को पढ़कर उनके एक विरोधी ने एक मुकदमे में उन्हें हरा दिया था। लेकिन मैं पुरातन पुस्तकों को छोड़कर ही कोई किताब पढ़ना चाहता था। मैंने उन्हीं दिनों *शेंग-श वेई-मेन* नामक किताब पढ़ी। यह मुझे बहुत पसन्द आई। ऐसी किताबों को पढ़ते हुए मैं सोचा करता था कि इनके नायक हमेशा योद्धा, राजा आदि ही क्यों होते हैं, खेतों में काम करने वाले किसान क्यों नहीं? और यह बात मुझे अजीब लगती।

मेरे पिताजी पूजा-पाठ नहीं किया करते थे। माँ बुद्ध की पूजा करती थीं। उन्होंने हमें भी धार्मिक शिक्षा दी। पिताजी का नास्तिकों जैसा व्यवहार हमें अच्छा नहीं लगता था। उन्हें हमने धर्म की ओर मोड़ने की कोशिश भी की लेकिन हमें सफलता नहीं मिली। एक बार वे कहीं जा रहे थे कि एक बाघ अचानक उनके सामने आ गया। पता नहीं क्या हुआ कि बाघ ही हड़बड़ाकर भाग गया। इस घटना के बाद वे धार्मिक होने लगे थे। लेकिन मैं धीरे-धीरे धर्म से दूर होने लगा। इस बात की पिताजी को कोई परवाह नहीं थी, लेकिन माँ ज़रूर चिन्ता किया करती थीं।

मैं खेती के काम से तंग आ गया था, इसलिए घर से भागकर एक आदमी के यहाँ रहने लगा। वे वकालत की पढ़ाई कर रहे थे। मैं उनके यहाँ छह महीने तक रहा। उसके बाद एक चीनी विद्वान से कुछ और पुरातन ग्रन्थों की शिक्षा ली।

उन्हीं दिनों मैंने विद्रोह करते लोगों को देखा। अकाल से जूझते हुए लोग गवर्नर के आगे विद्रोह कर बैठे थे। गवर्नर भीड़ के आगे झुक गए। लेकिन सम्राट ने उस गवर्नर को हटाकर दूसरा गवर्नर नियुक्त कर दिया। कई लोगों को गिरफ्तार कर लिया गया। विद्रोह को दबा दिया गया। लेकिन

विद्रोही हमारे हीरो बन गए। इस घटना के अगले साल हमारे ज़िले में अन्न की कमी हो गई। मेरे पिताजी के घर में ढेर सारा चावल रखा था। वे चावल बाहर भी भेज रहे थे। गाँव के गरीबों ने भेजे जा रहे चावल की एक खेप अपने कब्ज़े में ले ली। पिताजी तो आग-बबूला हो गए लेकिन मुझे उनसे कोई हमदर्दी नहीं हुई। हालाँकि गाँव वालों का लूटने का तरीका भी मुझे ठीक नहीं लग रहा था।

इसी समय एक स्कूल के एक क्रान्तिकारी शिक्षक ने भी मुझे प्रभावित किया। वे बौद्ध धर्म के विरोधी थे और देवताओं पर उनका विश्वास नहीं था। वे चाहते थे कि लोग मन्दिरों को स्कूलों में बदल दें। मैं उनके विचारों से सहमत था। इस तरह की घटनाओं ने मेरे युवा मन को बहुत अधिक प्रभावित किया। उन्हीं दिनों मेरे अन्दर राजनैतिक चेतना का भी प्रस्फुटन हुआ।

मैं सोलह साल का हो गया था। मेरे पिताजी मुझे चावल के एक व्यापारी के यहाँ काम सीखने भेजना चाहते थे, लेकिन मुझे पता चला कि एक नए तरह का स्कूल खुला है। मैंने वहीं जाने का निश्चय किया। यह स्कूल मेरे ननिहाल में था। मेरा एक ममेरा भाई उस स्कूल में पढ़ता था। मैं चला गया। पहली बार मैं घर से दूर रहने लगा था। नए स्कूल में मुझे पश्चिमी शिक्षा के नए-नए विषयों को पढ़ने का मौका मिला। इस स्कूल में ज़्यादातर लड़के सामन्तों के थे। कम ही किसान अपने बच्चों को यहाँ पढ़ा सकते थे। मेरे पास ढंग के कपड़े भी नहीं थे। इस वजह से कई अमीर लड़के मुझसे नफरत करते थे। दूसरे ज़िले का होने के कारण भी लड़के मुझे नापसन्द करते थे। इससे मुझे बहुत दुख होता था। बावजूद इसके मैं पढ़ाई में बहुत ध्यान देता था।

उस स्कूल में एक शिक्षक थे जो जापान से पढ़कर आए थे। वे नकली चोटी रखते थे। लड़के उन्हें 'नकली विदेशी शैतान' कहते थे। लेकिन मुझे उनसे जापान के बारे में जानना अच्छा लगता था। आगे चलकर चोटी काटने के एक अभियान में मैं भी शामिल हो गया। मैंने अपनी चोटी तो काटी ही, कई और लड़कों की चोटी भी काट डाली।

इस स्कूल से निकलकर मैं छांगशा शहर के एक स्कूल में चला गया। मैंने एक लेख लिखकर स्कूल की दीवार पर चिपका दिया। देश में क्रान्ति की लहर दौड़ रही थी। हालाँकि उस लेख में काफी गड़बड़ियाँ थीं, लेकिन एक तरह से राजनैतिक विचारों की मेरी यह पहली अभिव्यक्ति थी।

उन्हीं दिनों एक क्रान्तिकारी के भाषण से प्रभावित होकर मैं श्वान-हुंग की क्रान्तिकारी सेना में शामिल हो गया। इस सेना में कई और छात्र भी थे। उन्हीं दिनों मैंने अखबार पढ़ना शुरू किया। अखबारों में क्रान्ति की चर्चा होती थी। 'समाजवाद' शब्द पहली बार इन अखबारों से ही मैंने सीखा।

उन्नीस साल की उम्र में मैं नॉर्मल स्कूल में भर्ती हुआ। इस स्कूल में प्रवेश पाने के लिए निबन्ध लिखकर जमा करना होता था। मेरे दो मित्रों ने भी मुझसे अपने लिए निबन्ध लिखवा लिए। इस तरह कहा जा सकता है कि उस स्कूल में मेरा चयन तीन बार हुआ। उस समय दोस्तों के लिए लेख लिखना मुझे अनैतिक नहीं लगता था।

नॉर्मल स्कूल में मैंने बहुत कुछ सीखा। जितना ज्ञान, जितनी विद्या मुझे मिली उसका आधार इसी स्कूल में तैयार हुआ। न तो मैं कभी विदेश पढ़ने गया, न ही किसी विश्वविद्यालय में। इसी स्कूल में मैंने पाँच वर्ष बिताए। राजनीति से लेकर समाज के प्रति ज़िम्मेदारी का भाव मैंने इसी स्कूल में सीखा।

❖

रामप्रसाद 'बिस्मिल'

बचपन की मार से शरीर बना सहनशील

ग्वालियर राज्य में चम्बल के किनारे दो गाँव बहुत प्रसिद्ध थे क्योंकि इन गाँवों के लोग बड़े उद्दण्ड थे। वे राजा की भी परवाह नहीं करते थे। ये लोग अँग्रेज़ी राज्य में उपद्रव कर और अमीरों के घरों को लूटकर रात ही रात बीहड़ में घुस जाते थे। पुलिस या फौज उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती थी। यहीं के एक प्रसिद्ध वंश में मेरे दादा श्री नारायण लाल जी का जन्म हुआ था। पारिवारिक कलह और अपनी भाभी के दुर्व्यवहार से तंग आकर दादाजी ने अपनी जन्मभूमि का त्याग कर दिया और इधर-उधर भटकते रहे। अन्त में अपनी पत्नी और दो बेटों के साथ शाहजहाँपुर आ गए। उनके बेटे मुरलीधर और कल्याणमल क्रमशः आठ और छह वर्ष के थे। श्री मुरलीधर जी ही आगे चलकर मेरे पिता हुए।

बहुत कोशिश करने पर मेरे दादाजी को शाहजहाँपुर में तीन रुपए मासिक की नौकरी मिली। इससे परिवार का गुज़ारा मुश्किल था। एक समय आधे पेट रहते। फिर कुकनी, सामा, ज्वार आदि खाकर भी जब गुज़ारा न होता तब बथुआ, चना या कोई सस्ता साग लाया जाता। वस्त्र और स्थान का किराया अलग से समस्या थी। तब दादीजी ने सोचा कि कहीं मज़दूरी ही मिल जाए तो कुछ समस्या दूर हो। लेकिन एक तो अजनबी, फिर उनकी भाषा भी परदेसी, कोई उन पर विश्वास ही नहीं करता था। बहुत प्रयत्न के बाद दो-एक स्त्रियों ने अपने घर अनाज पीसने का काम उन्हें दिया। इन परेशानियों से तंग आकर दादाजी अपने देश लौट जाने की बात भी करते, लेकिन दादीजी को यह मंज़ूर न होता। जिनके कारण यह हाल हुआ, उनके पास अब क्या लौटना था?

दादाजी की गरीबी का लाभ उठाकर कई निःसन्तान महानुभाव दादाजी से एक बेटा खरीदना चाहते थे, लेकिन दादीजी इसके लिए बिलकुल तैयार नहीं होतीं। चार-पाँच वर्षों में समस्या थोड़ी खत्म हुई। दादाजी का वेतन बढ़ा और पिताजी के लिए पाठशाला जाने की व्यवस्था हुई। बाद में दादाजी नौकरी छोड़ दुअन्नी, चवन्नी आदि बेचने की दुकान करने लगे। ईश्वर की कृपा से दुर्दिन दूर हुए, पिताजी कुछ शिक्षा पा गए और दादाजी ने मकान भी खरीद लिया। पिताजी का विवाह हुआ।

विवाह हो जाने के बाद पिताजी को म्यूनिसिपैलिटी में पन्द्रह रुपए महीने की नौकरी मिल गई। लेकिन उनको यह नौकरी पसन्द नहीं आई और साल-दो साल बाद नौकरी छोड़कर वे कचहरी में सरकारी स्टाम्प बेचने लगे। इसी के बल पर उन्होंने अपने परिवार का भरण-पोषण किया। इसके अलावा वे पैसे का लेन-देन भी करते थे और किराए पर बैलगाड़ी भी चलवाते थे।

मेरा जन्म 1897 में हुआ। मुझसे पहले एक भाई हुए थे जो नहीं बचे। इसलिए गण्डे, तावीज़ तथा कवचों के द्वारा मुझे बचाने की कोशिश की गई।

जब मैं सात वर्ष का हुआ तो पिताजी ने स्वयं हिन्दी के अक्षरों का बोध कराया और एक मौलवी साहब से उर्दू पढ़ने को भेजा। बचपन से ही मेरे पिताजी मेरी शिक्षा का अधिक ध्यान रखते थे और ज़रा-सी भूल होने पर बहुत पीटते थे। मुझे याद है कि मुझे 'उ' लिखने में दिक्कत होती थी। एक दिन पिताजी के कचहरी जाने पर मैं खेलने चला गया। कचहरी से आकर उन्होंने मुझे 'उ' लिखने को कहा। मैं नहीं लिख सका। उन्हें पता चल गया कि मैं खेलने चला गया था। इस बात पर उन्होंने बन्दूक के लोहे के गज़ से मुझे इतना पीटा कि गज़ टेढ़ा हो गया। दादाजी के पास भाग जाने पर ही मैं बच पाया।

पिटाई के बावजूद मैं बहुत उद्दण्डता करता था। एक बार किसी के बाग में जाकर सारे आड़ू तोड़ डाले। माली मुझे पकड़ नहीं पाया। उसने आकर पिताजी से शिकायत की। पिताजी ने उस दिन मुझे इतना मारा कि मैं दो

दिन तक उठ नहीं सका। शायद बचपन की उस मार से ही यह शरीर बहुत कठोर और सहनशील बन गया।

जब मैं उर्दू का चौथा दर्जा पार कर पाँचवें में आया मेरी उम्र चौदह वर्ष की थी। मुझे पिताजी के सन्दूक से रुपए-पैसे चुराने की आदत पड़ गई थी। मैं इन पैसों से उपन्यास खरीदकर पढ़ता था। पुस्तक विक्रेता पिताजी को जानते थे। उन्होंने मेरी शिकायत की। मैंने उस पुस्तक विक्रेता से किताबें खरीदनी ही छोड़ दी। उन्हीं दिनों मैं सिगरेट भी पीने लगा था। कभी-कभी भाँग भी जमा लेता। पैसे हाथ आ जाने से खरीदे उर्दू के प्रेम-रसपूर्ण उपन्यासों और गज़लों की पुस्तकों ने आचरण पर भी असर डाल दिया था। लेकिन मैं बच गया। एक रोज़ भाँग के नशे में मैं सन्दूक खोल रहा था कि आवाज़ हो गई। माताजी ने मुझे पकड़ लिया। मेरे सन्दूक की तलाशी ली गई। उसमें बहुत से रुपए थे। भेद खुल गया। उपन्यास आदि भी फाड़ डाले गए। पिताजी ने सन्दूक का ताला भी बदल दिया। मेरी कोई चाल नहीं चल सकी।

ऐसी ही बुरी आदतों की वजह से मैं दो बार उर्दू मिडिल की परीक्षा में फेल हो गया। तब मैंने अँग्रेज़ी पढ़ने की इच्छा जताई। पिताजी तैयार नहीं थे, लेकिन माताजी की कृपा से मुझे अँग्रेज़ी पढ़ने भेजा गया।

दूसरे वर्ष उर्दू मिडिल में फेल होने पर मैं पड़ोस के मन्दिर में जाने लगा। वहाँ एक सच्चरित्र पुजारी जी थे। मैं उनके पास उठने-बैठने लगा। उनके उपदेशों का मुझ पर बहुत अच्छा असर हुआ। मैं ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करने लगा। पूजा-पाठ भी करता और व्यायाम भी। व्यायाम करने से मेरा शरीर सुगठित होने लगा। मेरी बुरी आदतें छूटने लगीं, लेकिन सिगरेट पीने की आदत अभी भी नहीं छूट रही थी। बाद में मिशन स्कूल के एक सहपाठी सुशील चन्द सेन के प्रभाव से मेरा सिगरेट पीना भी छूट गया।

मन्दिर आते-जाते मेरी भेंट मुंशी इन्द्रजीत जी से हुई। उन्होंने आर्य समाज सम्बन्धी कुछ उपदेश मुझे दिए। उसके बाद मैंने *सत्यार्थ प्रकाश* पढ़ा। इससे मेरा तख्ता ही पलट गया। मेरे जीवन का एक नया पृष्ठ खुल गया। मैं एक कम्बल को तख्त पर बिछाकर सोता और प्रातः चार बजे ही उठ

जाता। इसके बाद भी मन की वृत्तियाँ ठीक न होतीं। फिर मैंने रात का भोजन त्याग दिया। एक सज्जन के कहने पर नमक खाना छोड़ दिया। केवल उबालकर साग या दाल से एक समय भोजन करता। पाँच वर्षों तक मैंने नमक नहीं खाया। मेरा स्वास्थ्य और अच्छा हो गया। सब लोग मेरे स्वास्थ्य पर आश्चर्य करते थे।

मैं थोड़े ही दिनों में कट्टर आर्य समाजी हो गया। पिताजी इस बात पर बहुत गुस्साते। मुझे आर्य समाज से त्यागपत्र देने को कहते। एक बार क्रोध में उन्होंने मुझे घर से निकल जाने को कहा। मैं केवल एक कमीज़ पहने खड़ा था और पाजामा उतारकर धोती पहन रहा था। पाजामे के नीचे लँगोट बँधा था। पिताजी ने हाथ से धोती छीन ली और कहा, "घर से निकल!" मुझे भी गुस्सा आ गया। मैं उसी हालत में पिताजी का पैर छूकर घर से निकल गया। मैं जंगल की ओर चला गया। एक रात और एक दिन बाग में पेड़ पर बैठा रहा। भूख लगने पर खेतों से हरे चने तोड़कर खाए, नदी में स्नान किया। दूसरे दिन शाम में आर्य समाज मन्दिर में एक पेड़ के नीचे एकान्त में बैठकर पं. अखिलानन्द जी का व्याख्यान सुन रहा था कि पिताजी दो लोगों के साथ आ गए और मुझे पकड़ लिया। उसी समय मुझे स्कूल के हेडमास्टर के पास ले गए। मैंने पूरा वृत्तान्त हेडमास्टर को कह सुनाया। हेडमास्टर ने पिताजी को समझाया कि समझदार लड़के को मारना-पीटना ठीक नहीं। मुझे भी समझाया। उस दिन के बाद से पिताजी ने मुझ पर कभी हाथ नहीं उठाया। उस दिन से वे मेरी बातें सह लेते थे। मैं पढ़ने में बहुत ध्यान देने लगा। आठवीं कक्षा तक मैं हमेशा कक्षा में प्रथम आता रहा।

जब मैं आठवीं में था, स्वामी श्री सोमदेव जी सरस्वती शाहजहाँपुर में आए। वहीं कुछ दिन ठहर गए। मैं उनसे मिलता, कुछ-कुछ सीखता। उन्हीं दिनों कुछ नवयुवकों ने मिलकर आर्य-कुमार सभा की स्थापना की। वहाँ साप्ताहिक अधिवेशन होता। वहीं एक विद्यार्थी से मेरा परिचय हुआ। वह एक गाँव का निवासी था। जिस गाँव मे उसका घर था वहाँ के प्रत्येक निवासी के घर में बिना लाइसेंस का अस्त्र-शस्त्र रहता था। उस विद्यार्थी

के पास भी एक नाली का छोटा-सा पिस्तौल था। मुझसे प्रेम बढ़ा तो उसने मुझे पिस्तौल रखने को दिया। इस तरह का हथियार रखने की मेरी खूब इच्छा होती थी क्योंकि अपने पिता पर अकारण लाठियों का प्रहार करने वाले उनके शत्रुओं को मैं मार डालना चाहता था।

थोड़े दिनों बाद माताजी से कुछ पैसे लेकर मैं ग्वालियर गया। बड़ी खोज के बाद एक हथियार मुझे मिला। पचहत्तर रुपए का वह टोपीदार रिवॉल्वर लेकर मैं शाहजहाँपुर आया। जब उसे चलाया तो गोली केवल पन्द्रह या बीस गज़ पर ही गिरी। ग्वालियर में उन महाशय ने मुझे ठग लिया था।

अच्छाई की तरफ बढ़ते हुए मैंने सत्य को भी अपना लिया था। मैं इतना सत्यवक्ता हो गया था कि सत्य बात कह देता था। एक बार मैं साथियों के साथ ट्रेन से जा रहा था। हमने तीसरे दर्जे का टिकट खरीदा पर इंटर क्लास में बैठकर चले गए। इस बात का मुझे बहुत खेद हुआ। मैंने साथियों से कहा कि यह भी एक प्रकार की चोरी ही है।

इसी तरह एक बार मेरे पिताजी दीवाली में किसी पर दावा करके अपने वकील से कहकर गए थे कि कोई काम हो तो इससे करवा लें। वकील साहब ने मुझे पिता की जगह वकालतनामे पर दस्तखत करने को कहा। मैंने तुरन्त उत्तर दिया कि यह तो धर्म विरुद्ध होगा, इस तरह का पाप मैं नहीं कर सकता। मैंने दस्तखत नहीं किया।

मेरे जीवन पर मेरी माताजी का बहुत प्रभाव पड़ा। माताजी के विचार उदार थे। उन्होंने मेरी हर इच्छा पूरी की। नवमी में जब मैंने साइकिल की माँग की तो उन्होंने खरीद दी। काँग्रेस के अधिवेशन में जाने का दादाजी और पिताजी विरोध करते किन्तु माताजी खर्च दे देतीं। शाहजहाँपुर की सेवा-समिति में जाने पर भी वे मेरा उत्साह भंग नहीं करतीं। आगे चलकर मेरे क्रान्तिकारी जीवन में भी उन्होंने बड़ी सहायता की। उन्होंने मुझे एक आदेश दे रखा था कि अपने शत्रु को भी कभी प्राण-दण्ड नहीं देना। उनके इस आदेश को पूरा करने के लिए मुझे मजबूरन दो-एक बार अपनी प्रतिज्ञा भंग भी करनी पड़ी।

माताजी के अतिरिक्त स्वामी सोमदेव जी ने मेरे जीवन में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मैं जब आर्य समाज मन्दिर में उनसे मिलने जाता, वे मुझे धार्मिक उपदेश ही नहीं देते, राजनैतिक उपदेश भी देते थे। उनका राजनीति का ज्ञान भी उच्च कोटि का था। वे मुझे अक्सर कहा करते थे कि एक बार इटली जाकर महात्मा मेज़िनी की जन्मभूमि का दर्शन अवश्य करना। उन्हीं दिनों 1916 में लाहौर षड्यंत्र का मामला चला। भाई परमानन्द जी की फाँसी की सज़ा के बारे में अखबारों में पढ़कर मेरे शरीर में जैसे आग लग गई। मैंने प्रतिज्ञा की कि इसका बदला अवश्य लूँगा, जीवन भर अँग्रेज़ी राज्य का विध्वंस करने का प्रयत्न करता रहूँगा। यह प्रतिज्ञा लेने के बाद मैं स्वामीजी के पास गया। भाई परमानन्द के बारे में जानकर वे भी बहुत दुखी हुए। मैंने अपनी प्रतिज्ञा के बारे में उन्हें बताया। सुनने के बाद वे बोले, "प्रतिज्ञा करना सरल है, उस पर दृढ़ रहना कठिन।" मैंने उन्हें प्रणाम किया और कहा, "आपके चरणों की कृपा बनी रही तो अपनी प्रतिज्ञा-पूर्ति में कोई त्रुटि नहीं करूँगा।" उसी दिन मेरे क्रान्तिकारी जीवन का सूत्रपात हुआ।

❖

ज़ाकिर हुसैन

मैं शरारती नहीं था

मुहम्मद खाँ बंगश ने 1713 में फर्रुखाबाद ज़िले में पठानों की एक बस्ती बसाई थी और अपने बेटे कायम खाँ के नाम पर उसका नाम कायमगंज रखा था। इसी बस्ती में मेरे पूर्वज रहते थे। मेरे दादा गुलाम हुसैन खाँ के बारे में एक कहानी प्रचलित है कि एक बार तालाब से मिट्टी ले जाते हुए किसी आदमी को उन्होंने, रोका। बार-बार रोकने पर भी जब वह आदमी मिट्टी ले जाने से बाज़ नहीं आया तो दादाजी ने उसे छुरा भोंक दिया। इस घटना को छोड़ दें तो मेरे दादाजी बहुत उदार थे। बेसहारों को सहारा देते थे। पड़ोस की विधवाओं का सौदा-सुलुफ भी बाज़ार से कर देते थे।

मेरे पिता फिदा हुसैन खाँ के पास ज़मीन-जायदाद बहुत थोड़ी थी, इसलिए 1888 में, जब वे बीस साल के थे, वे हैदराबाद चले गए। वहाँ पहले तो बरतनों का व्यापार करने लगे, फिर कानून की किताब पढ़कर औरंगाबाद में वकालत करने लगे। इससे भी सन्तोष नहीं हुआ तो प्रकाशन का काम करने लगे, कानून की किताबें छापने लगे। इससे अच्छा मुनाफा हुआ और उन्होंने बेगम बाज़ार मुहल्ले में ज़मीन खरीदकर दो-मंज़िला मकान बनवा लिया। ऊपर वे रहने लगे, नीचे उनका छापाखाना बन गया।

मेरा जन्म अपने माता-पिता की तीसरी सन्तान के रूप में हुआ। नज़र लगने का इतना डर मेरी माँ नाज़नीन बेगम को रहता था कि वे अपने बेटों की संख्या तक मुँह से नहीं बोलती थीं। उन्होंने हमारे जन्मदिन का हिसाब भी नहीं रखा, न ही कभी हमारा जन्म दिन मनाया। यही वजह है कि मेरे

जन्मदिन के सम्बन्ध में भ्रान्ति बनी हुई है। आखिर जोड़-घटाव करने के बाद मैं अपना जन्मदिन 24 फरवरी 1897 को मानने लगा।

मैं दस साल का ही था कि पिता की मृत्यु हो गई। हैदराबाद का व्यवसाय अभी जमना शुरू ही हुआ था कि उन्हें क्षय रोग ने ग्रस लिया। हमें हैदराबाद से लौटकर कायमगंज आना पड़ा। यह लौटना समृद्धि को छोड़कर सख्त जीवन की ओर लौटना था।

मुझे पढ़ने के लिए इटावा भेज दिया गया। मेरे दो भाई अलीगढ़ में पढ रहे थे। इसी बीच 1911 में प्लेग की चपेट में आकर माँ की भी मृत्यु हो गई। माँ के बीमार होने पर घर वालों ने हमें बुलाना चाहा था मगर माँ ने यह कहकर मना कर दिया कि उनकी पढ़ाई का नुकसान होगा।

बचपन में मैं ध्यान रखा करता था कि मुझसे कोई गलत काम न हो जाए। बड़ों की नज़रों से गिरने का डर भी मुझे बना रहता था। मेरा छोटा भाई ज़ाहिद झगड़ालू स्वभाव का था। उससे बचने का भी मुझे ध्यान रखना होता था।

इटावा के जिस इस्लामिया हाई स्कूल में मैं पढ़ता था उसके मौलवी बशीरुद्दीन अँग्रेज़ी शिक्षा के साथ-साथ इस्लामी शिक्षा भी देते थे। वे एक तरह से संकीर्ण विचारों वाले व्यक्ति थे, बच्चों पर कड़ा अनुशासन रखते थे। पाँचों वक्त नमाज़, बाल छोटे रखने, सादा भोजन, सादा वस्त्र और सख्त बिछावन के वे हिमायती थे।

मैं स्कूल के नियम-कानून को मानता था। शरारतों से भी दूर रहता था। इस कारण शिक्षक भी मुझ पर विश्वास करते थे और लड़के भी। किसी दूसरे स्कूल में निबन्ध या वाद-विवाद प्रतियोगिता में भाग लेने भेजे जाने वाले लड़कों में मुझे भी रखा जाता था। स्कूल में भी किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति के आने पर उनके स्वागत में भाषण देने को मुझे ही कहा जाता था। एक बार ऐसा हुआ कि अलीगढ़ से कोई सज्जन अरबी विषय पर भाषण देने आए। उनके दाढ़ी नहीं थी। मैंने अपने स्वागत भाषण में दाढ़ी न होने के फायदे ही गिना दिए!

मैं बचपन से ही बुज़ुर्गों का सम्मान किया करता था। लेकिन स्कूल के सख्त नियमों के लिए स्कूल प्रबन्धकों से मेरी शिकायत रहती थी। लड़के सादा कपड़े और सख्त बिछावन तो बर्दाश्त कर लेते थे लेकिन स्वादहीन भोजन उनसे बर्दाश्त नहीं होता था। इसके अलावा नमाज़ में एक बार भी नहीं जाने पर दी जाने वाली सख्त सज़ा उन्हें परेशान करती थी। एक बार इसके विरोध में लड़के बगावत पर उतर आए। मुझे बीच-बचाव करने को कहा गया। मैंने प्रबन्धकों से नमाज़ से अनुपस्थित रहने पर दी जाने वाली सज़ा उठाने को कहा। उन्हें उठानी भी पड़ी।

उन दिनों ट्रिपोलियन और बालकन के युद्ध हो रहे थे। भारतीय मुसलमान तुर्की के बारे में चिन्ता किया करते थे। लड़ाई के बारे में जानने की गर्ज़ से मैं स्टेशन चला जाता था और *पायनियर* अखबार खरीदकर दौड़ा-दौड़ा वापस आता था। अपने साथियों से लड़ाई का सब हाल कह सुनाता था। जुमे की नमाज़ के बाद प्रायः मैं मस्जिद में भाषण भी दिया करता था। तुर्की की मदद के लिए चन्दा भी इकट्ठा किया करता था। एक बार ऐसा हुआ कि मैं टोपी लिए चन्दा माँग रहा था। मेरे मुँह से निकल गया कि "आपके दिए सिक्के गोलियाँ बनकर इस्लाम के दुश्मनों की छातियाँ छलनी कर देंगे।" एक व्यक्ति मेरी बात सुनकर रो पड़े। उनकी जेब में जो कुछ था उन्होंने दे डाला।

1913 में, जब मैं सोलह साल का था, मैं मुहम्मडन एंग्लोओरियण्टल कॉलेज (वर्तमान अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय) में दाखिल हो गया। मेरे दो बड़े भाई वहाँ पहले से रह रहे थे। मेरे एक भाई ने मुझे किताबें, लालटेन, जूते वगैरह खरीदवा दिए थे। शाम में भोजन के वक्त जब मैं तैयार हो रहा था तो जूते के फीते लग ही नहीं रहे थे। भाई ने बताया तो था लेकिन मैं भूल गया था। खैर, बहुत देर में जब मैं सुराखों में फीते डालने में सफल हो गया और तैयार होकर भोजनालय गया, तब तक देर हो चुकी थी।

इस संस्था में मैंने बहुत कुछ सीखा। यहाँ की और बातों के अलावा एक बात मुझे अच्छी तरह याद है। जब परीक्षाओं के दिन आते, मैं अपने एक

दोस्त के पास चला जाता। वह पढ़ाई-लिखाई में बहुत गम्भीर था, नोट्स भी बनाता था। मैं उसके पास जाता, अपनी लापरवाही पर ताने मारता, उसकी पढ़ाई-लिखाई की तारीफ करता। फिर मैं उससे गुज़ारिश करता कि वह मुझे फेल होने से बचा ले। वह मुझे अपने नोट्स दे देता। मैं उन्हें पढ़ लेता और आम तौर पर उससे अच्छे नम्बर ही ले आता!

मुझे यह भी याद है कि जब मैं स्कूल से घर वापस आता था तो हसन शाह नाम के एक सूफी मेरा इन्तज़ार कर रहे होते थे। वे इधर-उधर घूमते रहते थे, खूब पढ़ते थे। अपनी बहँगी में किताबें भी लादे होते थे। जब कभी कोई किताब उन्हें विशेष पसन्द आती, वे उसे रखना चाहते। लेकिन उनके पास खरीदने के लिए पैसे नहीं होते। वे मेरी छुट्टी के समय घूम-फिरकर कायमगंज आ जाते। मुझसे किसी किताब की नकल कर देने का अनुरोध करते। मैं उनका यह काम मन लगाकर करता। नकल करते-करते मेरी लिखावट काफी सुन्दर हो गई। किताबों से कुछ फारसी भी मैंने सीख ली और सूफी मत के बारे में भी काफी जानकारी मुझे मिल गई।

❖

पाण्डुरंग सदाशिव साने

मेरी सफलता को देखने के लिए माँ नहीं थीं

महाराष्ट्र के रामगिरि ज़िले के पालगढ़ नामक गाँव में 24 दिसम्बर 1899 को मेरा जन्म हुआ। मेरे पिता सदाशिव राव, जिन्हें लोग भाऊ राव साने कहा करते थे, एक छोटे से ज़मींदार थे। उनकी ज़मींदारी बड़दली गाँव में थी। हालाँकि आर्थिक दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्व नहीं था। घर का काम किसी तरह चला करता था।

मेरे पिता देश की गुलामी से बहुत दुखी रहते थे। वे राष्ट्रीय आन्दोलनों में हिस्सा भी लेते थे। इस वजह से उन्हें छह महीने की जेल भी हुई थी।

मेरी माँ यशोदाबाई बहुत स्नेहमयी थीं। पुत्रों को वे हर हाल में अच्छा बनाना चाहती थीं, इसलिए हर समय उनके लिए काम करती रहती थीं। नौकरों-चाकरों तक से उनका व्यवहार बहुत स्नेहिल होता था। पास-पड़ोस के लोगों से भी वे अच्छा व्यवहार करती थीं। यहाँ तक कि जानवरों और पेड़-पौधों पर भी उनका प्रेम था। वे पूजा-पाठ, व्रत-त्यौहार भी खूब किया करती थीं।

महाराष्ट्र के देवता पंढरपुर के पाण्डुरंग के नाम पर मेरा नाम पाण्डुरंग रखा गया था, लेकिन माँ मुझे पण्ढरी कहकर बुलाती थीं। आगे चलकर स्कूल में मेरा नाम पाण्डुरंग सदाशिव साने लिखाया गया।

माँ मुझ पर बचपन से ही खूब ध्यान देती थीं। हमेशा कुछ न कुछ अच्छी बात सिखाती रहती थीं। एक बार की बात है वे मुझे नहला रही थीं। मैंने

कहा, "माँ, अपना आँचल ज़मीन पर फैला दो, मेरे पैर गन्दे होने से बच जाएँगे।" माँ ने अपना आँचल ज़मीन पर फैला दिया, फिर बोलीं, "बेटा! पैरों को साफ रखने की तुम्हें चिन्ता है। इस बात का भी ध्यान रखना कि तुम्हारा मन हमेशा साफ रहे।"

इसी तरह की एक घटना है। पूजा के लिए सुबह-सुबह बच्चे फूल तोड़ने जाया करते थे। मैं भी जाता था। बच्चों में ज़्यादा से ज़्यादा फूल तोड़ने की होड़ लगी रहती थी। एक दिन मुझसे पहले लड़के फूल तोड़कर जा चुके थे। मुझे बहुत निराशा हुई। अगले दिन सबसे पहले जाकर मैंने फूल ही नहीं, उनकी कलियों तक को तोड़ लिया। बच्चे मेरी माँ के पास शिकायत करने आ गए। माँ ने मुझे कहा, "कलियों को तोड़ना अच्छी बात नहीं है। फिर देवता तो सभी जगह एक ही हैं। फूल तोड़ने की जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए। पड़ोस के देवता पर फूल चढ़ जाएँ तो समझो अपने देवता पर भी चढ़ गए!"

इन बातों का मेरे मन पर काफी असर पड़ता था। एक बार तो माँ ने मुझे एक अछूत बुढ़िया का गट्ठर उठाने को कह दिया था। बुढ़िया थकान के कारण लकड़ियों का गट्ठर रखकर बैठ गई थी। जब वह उठना चाह रही थी तो कोई उसे गट्ठर उठाकर देने वाला नहीं था। माँ ने मुझे भेजा। छुआछूत के उस दौर में बुढ़िया की हिम्मत नहीं हुई कि मुझसे गट्ठर उठवाए। तब माँ ने उसकी मदद करने के ख्याल से उसकी लकड़ियाँ खरीद लीं। उसे कुछ खाने को भी दिया। पास-पड़ोस में इसकी चर्चा होने लगी लेकिन माँ को इसकी परवाह नहीं थी। उन्होंने कहा, "अच्छे काम में लाज नहीं आनी चाहिए। दीन-दुखी गरीबों की मदद करने में हमारी जात नहीं जाती है।"

बचपन में मुझे पानी से बहुत डर लगता था। लड़के जब मुझे तैरने के लिए बुलाते तो मैं छिप जाता। माँ को यह अच्छा नहीं लगता। वे मुझे सण्टी से मारकर तालाब में भेज देतीं। धीरे-धीरे पानी से मेरा डर जाता रहा और मैं तैरना भी सीख गया। माँ को यह पसन्द नहीं था कि कोई उनके बेटे को डरपोक कहे।

मेरे पिताजी धार्मिक स्वभाव के थे। सुबह उठकर वे श्लोक और अभंग गाते, हमें सिखाते। उनका अर्थ भी बतलाते। शाम को माँ भी हमें आरती में साथ रखतीं। इस तरह के धार्मिक वातावरण में हम बड़े हुए।

11 फरवरी 1905 को मुझे पालगढ़ की मराठी पाठशाला में प्रवेश दिलाया गया। स्कूल की फीस भरने लायक पैसे घर में नहीं होते थे, इसलिए कुछ महीनों में मेरा नाम काट दिया गया। छह महीने बाद जब फीस के पैसे जमा किए गए, तब मेरा नाम फिर से लिख लिया गया।

पाँचवीं तक गाँव के स्कूल में पढ़ने के बाद मुझे कहीं बाहर भेजा जाना था। गाँव से 18-19 किलोमीटर दूर दापोली में मेरी बुआ रहती थीं। मुझे वहीं भेज दिया गया। दापोली का स्कूल बहुत अच्छा था। उसके प्रधानाध्यापक और शिक्षक विद्वान थे। देशभक्त भी थे। वहीं मुझमें देशभक्ति के संस्कार पड़े। पढ़ने की भी लगन वहीं लगी। मैंने काफी किताबें पढ़ डालीं। स्कूल में भाषण, वाद-विवाद वगैरह होते रहते थे। उनसे भी लाभ हुआ।

मेरी बुआ कर्मठ थीं। उनकी देखा-देखी मैं भी काम करने लगा। वहाँ से अपने घर आता तो माँ के काम में हाथ बँटाता। मुझे झाड़ू लगाने, बरतन धोने, कपड़े साफ करने, चक्की पीसने, धान कूटने जैसे किसी भी काम में शर्म नहीं आती थी। मैं खुशी-खुशी माँ के साथ काम किया करता था। पर घर में गरीबी का साम्राज्य चारों ओर था। माँ की फटी साड़ी और पिता की फटी धोती से वह झलक जाती थी। कई बार तो भूसी की रोटी खाने तक की नौबत आ जाती थी। माता-पिता इन सब कष्टों को सह लेते थे। उन्हें उम्मीद थी कि बच्चे पढ़-लिख लेंगे तो अच्छे दिन आ जाएँगे।

उन्हीं दिनों मेरे एक भाई को माता निकल आई। थोड़ा स्वस्थ होने पर उसकी गर्मी दूर करने के लिए माँ ने गुड़ में प्याज़ पकाकर पाक तैयार किया। आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि स्वस्थ बच्चों को उसे दिया जा सके। बच्चे पाक की माँग करते तो माँ समझातीं, "यह तो दवाई है। माता के निकलने पर ही खाई जाती है।" मैंने कहा, "अच्छा होता, मुझे भी माता निकल आती!" मेरी बात सुनकर माँ की आँखों में आँसू भर गए।

उधर स्कूल का यह हाल था कि फीस माफ करने को शिक्षक तैयार नहीं थे। एक दिन एक शिक्षक ने कहा, "जो-जो विद्यार्थी फीस माफ करवाना चाहते हैं, खड़े हो जाएँ!" उनकी बात पर जब मैं खड़ा हो गया तब शिक्षक ने मुझसे मज़ाक किया, "अरे, साने! तुम्हारा घराना तो इतना प्रसिद्ध है, तुम्हें फीस की माफी क्यों चाहिए?"

शिक्षक की बात से मैं दुखी हो गया। तभी मुझे पता चला कि औंध के राजा गरीब विद्यार्थियों के लिए मुफ्त भोजन और शिक्षा का प्रबन्ध करते हैं। मैं वहाँ पहुँच गया। वहाँ जाने पर पता चला कि अब बाहर के विद्यार्थियों को यह सुविधा नहीं दी जा रही है। मेरे सिर पर जैसे आसमान टूट पड़ा। फिर भी मैंने निश्चय किया कि चाहे जितनी भी कठिनाइयाँ आएँ, मैं अपनी पढ़ाई जारी रखूँगा।

इसी बीच वहाँ प्लेग फैल गया। स्कूल बन्द हो गया। मैं अपनी पुस्तकें और सामान बेचकर पालगढ़ वापस आ गया। कुछ दिन बाद जब प्लेग खत्म हो गया तब पिताजी ने माँ से कहा, "ऐसा लगता है कि पण्ढरी का मन पढ़ाई में नहीं लगता है। वह स्कूल नहीं जाना चाह रहा है!" माँ ने जब कहा कि "अभी स्कूल नहीं खुले हैं। वह यहाँ है तो मेरा हाथ ही बँटा देता है!" तो पिताजी ने कहा, "इस बात में लाड़ करना ठीक नहीं है। अगर यह नहीं पढ़ेगा तो क्या कर पाएगा?"

पिताजी की बातें मैंने सुन ली थीं। मैं घर से निकल गया। बम्बई चला गया। एक सप्ताह वहाँ रहने के बाद अपने मित्र के यहाँ पुणे चला गया। उसी के परिवार में रहने लगा और नूतन मराठी विद्यालय में पढ़ने लगा। मित्र के परिवार वालों पर मैं भार नहीं देना चाहता था, इसलिए उनसे कह देता, "मैं बाहर खाकर आया हूँ।" उन दिनों महाराष्ट्र में गृहस्थ लोग गरीब विद्यार्थियों को मुफ्त भोजन कराया करते थे। सप्ताह में तीन दिन मैं वहाँ भोजन कर लेता था। बाकी दिन भूखे रह जाता। लेकिन मैं मित्र के घर के सारे काम उतने ही उत्साह से किया करता। मित्र की बहन बीमार हुई तो उसके पेशाब-पाखाना तक साफ किए।

गृहस्थों के यहाँ भोजन करने पर कुछ पैसे दक्षिणा के रूप में भी मिलते

थे। मैं उन पैसों से पुरानी लेकिन अच्छी किताबें खरीद लाता, उन्हें चाव से पढ़ता।

उधर पालगढ़ का हाल बुरा ही था। पिता कर्ज़ के शिकार हो गए थे। साहूकार ने पिता का घर और सामान नीलाम करवा दिया। इस दुख से दुखी हो माँ बीमार हो गईं, लेकिन मेरी पढ़ाई का ख्याल कर उन्होंने मुझे खबर नहीं भिजवाई।

स्कूल की अन्तिम परीक्षा थी, मैं परीक्षा की तैयारियों में जुटा था। परीक्षा समाप्त होने पर मैं घर के लिए निकला। बम्बई से स्टीमर लेकर हर्णे बन्दरगाह पर उतरा। उतरते ही सामने मौसी दिखाई दी। मौसी का चेहरा देखकर मेरी समझ में आ गया कि माँ पहले ही यह संसार छोड़कर चली गई हैं। मुझे पूरा संसार सूना लगने लगा।

धीरे-धीरे मैंने अपने मन को समझाया कि माँ शायद मुझे छोड़कर इसीलिए चली गईं कि मैं उनके न होने पर भारत माता को ही अपनी माँ समझने लगूँगा। मैंने निश्चय किया कि अब भारत माता की सेवा में ही अपने को लगा दूँगा।

अपने आप को समझाकर मैं पुणे वापस आ गया। परीक्षा का परिणाम आ गया था। मैं पास हो गया था। दुख बस इस बात का था कि मेरी इस सफलता को देखने के लिए माँ नहीं थीं।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

मैं रो तो रहा था भाई के डर से...

उत्तर प्रदेश के मिर्ज़ापुर ज़िले की चुनार तहसील के सद्दूपुर मोहल्ले में बैजनाथ पाण्डे के घर सन् 1900 में मेरा जन्म हुआ। मेरे पहले कई भाई पैदा होते ही या साल-दो-साल के होते भगवान को प्यारे हो गए थे, इसलिए मेरे जन्म पर कोई उत्साह व्यक्त नहीं किया गया। मैं अभी दो-ढाई साल का ही था कि मेरे पिता का स्वर्गवास हो गया। इसके बाद मैं अपने बड़े भाई की देख-रेख में आ गया। पिता की मृत्यु के बाद वही घर के पालक थे। मेरे भाई ज़्यादा पढ़े नहीं थे, लेकिन वे हिन्दी के साथ-साथ संस्कृत और बांग्ला भी जानते थे। वैद्यक और ज्योतिष में भी टाँग अड़ाने की योग्यता रखते थे। कवि और लेखक भी थे। प्रूफ-संशोधन और पत्रकारिता से भी उनका सम्बन्ध था। लेकिन उनमें कई बुराइयाँ आ गईं। जुआ, शराब वगैरह! घर के पिछले हिस्से में माँ और भाभी को बन्द कर वे अगले हिस्से में जुआरियों के संग बैठते। चरस, गाँजे और दारू के दौर चलते। नशे में वे मुझे जूतों, थप्पड़ों, घूसों और लातों से मारते। भाभी को भी पीटते और कभी-कभी माँ पर हाथ उठा देते। भाभी और माँ के गहने भी उन्होंने बेच दिए या गिरवी रख दिए। एक बार पुलिस की गिरफ्त में आने के बाद उन्होंने चुनार छोड़ दिया। काशी चले गए और रामलीला मण्डली में काम करने लगे।

वैसे पिता के रहते ही मेरे दोनों भाइयों को रामलीला का चस्का लग गया था। पिता को धता बताकर मिर्ज़ापुर भागकर रामलीला में राम-लक्ष्मण का अभिनय करने लगे थे। क्रोध से काँपते पिता जब मिर्ज़ापुर पहुँचे तो अपने दोनों सपूतों को रंगमंच पर राम-लक्ष्मण के रूप में शोभायमान देखा।

जनता को भूल वे स्टेज पर चढ़ गए, राम-लक्ष्मण के माथे से मुकुट नोंचकर वहीं फेंका और उन्हें झपड़ियाते हुए चुनार ले आए! पिता के देहान्त के बाद चुनार की रामलीला में वे कोई न कोई पार्ट अदा करते। चुनार में ही एकाध बार सीता का रोल देकर मुझे भी बड़े भाई ने मंच पर उतार दिया था!

काशी से तीस रुपए की तनख्वाह में से दस-पाँच वे चुनार भी भेजते। लेकिन चुनार में अक्सर चूहे दण्ड पेला करते थे। मेरी माँ किसी की मजूरी कर, कूट-पीसकर कुछ लाती थी। बड़ी मुश्किलों से सुबह को खाना मिलता तो शाम को नहीं। शाम को मिलता तो सुबह को नहीं। भोजन-वस्त्र की समस्या ही इतनी थी कि शिक्षा-दीक्षा के बारे में सोचना भी मुश्किल था। कुछ दिनों बाद भाई साहब ने मुझे भी बनारस बुला लिया। मुझे बुला लेने में भाई साहब को कई फायदे नज़र आए थे। एक तो कोई शरारती घर में नहीं बचा, दूसरे, चौबीस घण्टे का 'ब्वॉय सरवेंट' उन्हें मिल गया। तीसरे, सीता या लक्ष्मण बनकर रामलीला से मैं आठ-दस रुपए कमा लेता!

रामलीला में संवाद याद करवाने के अतिरिक्त भाई साहब के एक मित्र ने मुझे पखावज भी सिखलाया था। चुस्ती से चरण चलाना, ठुमकना, थिरकना, बल खाना वगैरह भी मुझे सिखलाया गया।

उन दिनों रामलीला में रामायणी होते थे जो तुलसीकृत रामायण से चौपाई या दोहा सुना दिया करते थे, फिर अभिनेता उसका अर्थ जनता को सुना दिया करते थे। ऐसे में अभिनय का तो खून हो जाता था, मगर जनता भक्ति की भावना से प्रभावित होती रहती थी। एक बार ऐसा हुआ कि भरत का अभिनय करने वाला हमारा साथी बीमार पड़ गया। भरत का कठोर काम कौन करे इस बात की चिन्ता हुई। इस पर मेरे बड़े भाई ने मण्डली के महन्त को आश्वासन दिया कि वे चिन्ता न करें, भरत का रोल बेचन कर लेगा। भाई ने गाँजे के नशे में चूर आँखें दिखाकर मुझे धमकाया, "भरत के काम में ज़रा भी भूल की तो लीला-भूमि से पीटते-पीटते डेरे पर ले चलूँगा।"

मुझे भाई से पिटने का इतना डर था कि भरत तो क्या, अपनी उस बाल्यावस्था में मैं दशरथ का रोल भी अदा कर देता और रावण का भी! मंच पर उस दिन भरत के रोने का प्रसंग था। राम के वन-गमन के पश्चात् ननिहाल से लौटकर भरत कौशल्या के आगे रो रहे थे। मंच पर मैं रो रहा था। मैं रो तो रहा था भाई के डर से, जनता समझ रही थी कि भरत जी अभिनय कला का शिखर छू रहे हैं!

महन्त जी ने मंच पर ही दस रुपए का इनाम दिया और एक रुपया महीना तनख्वाह भी बढ़ा दी। बधाइयाँ और इनाम के रुपए भाई साहब के हाथ लग गए। उस रात भी जब तक भाई साहब सो नहीं गए मैं उनके पाँव दबाता रह गया। हाँ, उस दिन एक ही कृपा हुई कि रोज़ की तरह पाँव दबवाते-दबवाते उन्होंने दो-चार लातें नहीं लगाईं!

1910 की बात है। हमारी पार्टी पंजाब के मिंटगुमरी में गई हुई थी। मिंटगुमरी अब पाकिस्तान में है। भक्तों ने रामलीला भूमि के निकट ही मण्डली वालों के ठहरने की व्यवस्था की थी। स्त्रियाँ बड़ी श्रद्धा से हमारे लिए दूध, दही, मक्खन, मट्ठा, गुड़, बताशे, लड्डू, अन्न, वस्त्र इत्यादि दे जातीं। भक्त लोग अक्सर अपने दरवाज़े पर मण्डली के लिए भण्डारा रखते। पंगत बैठती। फिर 'जय गान' आरम्भ हो जाता। चारों धाम, सातों समुद्र, हनुमान जी, सुग्रीव जी, अंगद जी इत्यादि की जय करते-करते कभी-कभी एक घण्टा बीत जाता। तब जाकर महन्त के गुरु, महन्त और भोजन देने वाले भक्त की जय-जयकार होती। मालपुए ठण्डे हो जाते, मलाई पर मक्खियाँ भिनभिनातीं, जय बोलते-बोलते थकान और भूख से मुझे तो नींद आने लगती!

रामलीला के ही किसी एक दिन की बात है। उस दिन धनुष-भंग और लक्ष्मण-परशुराम संवाद होना था। भाई साहब परशुराम की भूमिका में थे और मैं लक्ष्मण की भूमिका में। भाई साहब को सहज वेश में देखकर ही मेरी रूह फना होती थी, उस दिन तो वे साक्षात् परशुराम के मेक-अप में थे। लक्ष्मण का संवाद बोलते हुए मैं भूलने लगा। कहीं याद भी आता तो घिघियाने लगता। और भाई साहब मंच पर ही कह रहे थे, "चल अन्दर,

तेरा भुरकस न कर दूँ तो मेरा नाम नहीं।" परदा गिरते ही परशुराम जी लक्ष्मण जी को पीटने लगे!

पंजाब से लौटकर हम लोग चुनार आ गए। चुनार में भाई साहब अपनी पुरानी आदतों की ओर लौटने लगे। जब उन पर कर्ज़ का बोझ बढ़ गया, तब फिर से चुनार छोड़कर चले गए। इस बार वे अयोध्या गए। मैं भी उनके साथ था। दूसरी रामलीला मण्डली में। अयोध्या, फैज़ाबाद, बाराबंकी, परतापगढ़, दलीपपुर, अलीगढ़, बुलन्दशहर, मेरठ, दिल्ली, दमोह आदि जगहों पर मण्डली के साथ घूमता रहा। लक्ष्मण और सीता का रोल करने के कारण अनेक नर-नारियों से चरण पुजवाता रहा।

मैं चौदह साल का हो गया था। भाई के साथ छुट्टी मनाने चुनार आया। अलीगढ़ में किसी बात पर मण्डली के महन्त से भाई साहब का विवाद हो गया। भाई साहब ने आगे काम करने से इन्कार कर दिया। पुलिस से पकड़वाने की धमकी का भी भाई साहब पर असर नहीं हुआ।

इस बार जब हम घर आए तो शायद मेरे सौभाग्य से मेरे पुत्रहीन चाचा ने मुझे गोद ले लिया। मैं उनकी गोद में चला गया। उन्होंने मेरी शिक्षा-दीक्षा का निर्णय लिया। चुनार के मिशन स्कूल में मेरा नाम तीसरी कक्षा में लिखवाया गया। पाँचवीं पास कर मैं छठवीं में पहुँचा ही था कि मेरी चाची के एक सुन्दर-सा पुत्र हो गया। मुझे गोद से उतारकर चाचाजी सपरिवार काशी चले गए। मैं फिर से उसी भाई के चंगुल में जकड़ा गया।

इसी बीच स्कूल में एक मौलवी साहब का विरोध करने के कारण मेरा नाम स्कूल से काट दिया गया। मैं भी काशी चला गया। चाचा के आगे गिड़गिड़ाया तब जाकर उन्होंने काशी में रहकर पढ़ने की इजाज़त दी। बनारस के विख्यात हिन्दू कॉलेजिएट स्कूल में छठी क्लास में ले लिया गया। स्कूल के प्रधानाध्यापक थे श्री काली प्रसन्न चक्रवर्ती। देवतुल्य, बालकों के हितैषी। उन्होंने ही दानवीर बाबू शिव प्रसाद जी गुप्त से कहकर मेरे भोजन का प्रबन्ध किया। तब तक चाचाजी ने दूसरा मकान ले लिया था जहाँ मेरे लिए कोई जगह नहीं थी। मैं लक्ष्मी मन्दिर में रामानन्द दुबे के साथ रहने लगा।

जब मैं आठवें दर्जे में था तो स्कूल के हेडमास्टर थे श्री गुरुसेवक सिंह उपाध्याय। वे बात-बात पर टोकने वाले और विद्यार्थियों पर नियंत्रण रखने वाले थे। अब मेरी ही बुद्धि विपरीत थी कि एक दिन विद्यार्थियों और अध्यापकों की गोष्ठी में एक तुकबन्दी बनाकर मैंने उपाध्यायजी के लहज़े में ही सुनाई। दूसरे दिन उपाध्यायजी ने मुझे बुलवाया। मैं ढीठ बना रहा। उनसे क्षमा नहीं माँगी।

मैं वार्षिक परीक्षा में फेल भी हो गया। अब बाबू शिवप्रसाद गुप्त के यहाँ से आटा-दाल मिलने की उम्मीद भी नहीं थी। एक बार फिर मैं अपने घर लौटने को मजबूर था। घर लौटने के दूसरे दिन किसी स्त्री ने भाभी को देने के लिए मुझे दस रुपए दिए। दस रुपए हाथ में आते ही मैंने सोचा कि मेरे फेल होने की बात सुनकर भाई पता नहीं क्या कर डालेंगे? मैं मात्र धोती-कमीज़ और एक अँगोछा लिए चुनार स्टेशन चला आया। पहली ही ट्रेन से मैं कलकत्ता भाग गया। भूखे-प्यासे, पैदल चलकर मैं चुनार के विश्वनाथ त्रिपाठी से मिलने *विश्वमित्र* के कार्यालय जा पहुँचा। वहाँ जाकर पता चला कि विश्वनाथ जी तो कल रात ही चुनार चले गए हैं! चुनार के ही एक मुंशीजी थे। मैं उनके यहाँ चला गया। सात दिन बाद विश्वनाथजी लौट आए। उन्होंने मुझे आर.एल. बर्मन कम्पनी में नौकरी दिलवा दी। लेकिन मुझे लगने लगा कि मुझे बनारस लौट जाना चाहिए। मैं लौट गया। उन दिनों देश में राष्ट्रीयता की लहर तेज़ हो रही थी। मेरा मन भी उसमें डुबकियाँ लगाने को करता। मैं देशभक्तिपूर्ण कविताएँ लिखने लगा। हिन्दू स्कूल के हिन्दी अध्यापक पं. साँवली जी नागर को मैंने कविताएँ सुनाईं। वे प्रसन्न हुए। मुझे लेकर *ज्ञान मण्डल* गए। वहाँ उन्होंने शिव प्रसाद जी, शिवप्रकाश जी और बाबूराव विष्णु पराड़कर जी से मिलवाया। मैंने कविता सुनाई। वह कविता *आज* में छपी। उसके बाद लगातार मेरी रचनाएँ *आज* में छपने लगीं। ब्रिटिश साम्राज्य के नृशंस शासक को अपने नाम से दहलाने की बात सोचकर उन दिनों लोग 'त्रिशूल', 'वज्रपाणि', 'धूमकेतु', 'भीष्म', 'भयंकर', 'प्रलयंकर' जैसे उपनाम रखा करते थे। मैंने भी अपना उपनाम 'उग्र' रख लिया। ❖

जय प्रकाश नारायण

सरस्वती-भवन से आई राष्ट्रीयता की भावना

मेरा जन्म बिहार के सिताब दियारा गाँव में 11 अक्तूबर 1902 को हुआ था। उस वक्त मेरे गाँव में प्लेग फैला हुआ था। गाँव से दो-ढाई मील दूर पश्चिम दिशा में एक जगह थी बाबूर वानी। वहाँ हम लोगों की ज़मीन थी, हम लोगों का डेरा भी था। हमारे परिवार के लोग प्लेग के डर से वहीं गए हुए थे। वहीं मेरा जन्म हुआ।

माताजी से मुझे विशेष प्रेम था। उनकी सादगी, प्रेम और कोमल हृदय का मेरे ऊपर बहुत असर रहा। पिताजी का व्यवहार भी अच्छा रहता था, लेकिन मैं उनके साथ बहुत नहीं रहा। वे बाहर नौकरी करते थे। वे ज़रा संकोची स्वभाव के थे। एक बार पिताजी मेरे लिए एक जोड़ा कबूतर ले आए। मैं कबूतरों से खेलता रहता। एक दिन गर्मी के कारण एक कबूतर मर गया। मैं बहुत दुखी हुआ। उस दिन मुझसे खाना नहीं खाया गया।

मेरा ननिहाल छपरा ज़िले के अमरदह गाँव में था। ननिहाल की अधिक याद नहीं है। मैं घर पर ही ज़्यादा रहा। घर में मैं दादीजी के साथ रहता था। सौतेली दादी होने के बावजूद वे मुझे बहुत प्यार करती थीं।

मेरी पढ़ाई-लिखाई घर पर ही शुरू हुई। मेरे लिए मास्टर रखे गए। बाद में सिताब दियारा के प्राइमरी स्कूल में मेरा नाम लिखा दिया गया। उसी स्कूल के एक मास्टर साहब हमारे घर पर रहते थे। वे मुझे पढ़ाते थे। मास्टर साहब के अन्दर जो राष्ट्रीय भावना थी उसका मुझ पर प्रभाव पड़ा।

सातवीं कक्षा में मैं पटना के कॉलेजिएट स्कूल में पढ़ने चला गया। उन दिनों वह बिहार का सबसे अच्छा स्कूल माना जाता था। उस स्कूल के हेडमास्टर अमजद अली खाँ बहुत प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। सभी उनकी तारीफ करते थे। पूरे स्कूल पर उनका प्रभाव था। खाँ साहब के बाद प्रो. रासमसूद हेडमास्टर बनकर आए। वे अँग्रेज़ी रंग में रँगे हुए थे। उनका कोई खास असर मुझ पर नहीं हुआ। वे जल्दी ही हैदराबाद चले गए। इनके बाद विटमोर साहब हेडमास्टर बनकर आए। वे बहुत अनुशासन-प्रिय थे। एक बार हम लोग क्लास छोड़कर तिलक को देखने चले गए तो वे बुरा मान गए। उन्होंने बुलाकर हमें बेंत मारी। राष्ट्रीय भावना के लिए कुछ आदर का भाव होने के कारण बेंत मारते हुए उन्हें ग्लानि भी हो रही थी। लेकिन अनुशासन तोड़ने के जुर्म में उन्हें हमें मारना पड़ा। अँग्रेज़ सरकार की नौकरी में होने के कारण उन्हें अपने कर्त्तव्य का पालन भी तो करना था।

मैं पटना में जहाँ रहता था वह विद्यार्थियों के लिए प्राइवेट हॉस्टल जैसा था। उस घर का नाम था सरस्वती-भवन। सरस्वती-भवन में ऐसे कई लोग रहते थे जो राष्ट्रीय भावना से जुड़े हुए थे। इनमें से कई लोग आगे चलकर बिहार के बड़े नेता भी हुए। तो सरस्वती-भवन में दिन-रात उन लोगों में बहसें होती रहती थीं। हम लोग उन्हें सुनते थे और प्रभावित होते थे। सरस्वती-भवन के पास ही प्रो. यदुनाथ सरकार रहते थे। सरकार पटना विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रोफेसर थे। उनकी भी चर्चा सरस्वती-भवन में अक्सर होती रहती थी। एक बार बंगाल का कोई क्रान्तिकारी उनके यहाँ आकर कुछ दिन रहा। इस वजह से प्रो. सरकार के घर की तलाशी भी हुई।

सरस्वती-भवन के प्रभाव से ही मैं दिन ब दिन राष्ट्रीय भावना में डूबता गया। उन्हीं दिनों मेरी बड़ी बहन की शादी श्री बृजबिहारी सहाय से हुई। वे पटना हाईकोर्ट में नौकरी करने लगे। उन्हें क्वार्टर भी मिल गया। मैं भी उन्हीं के साथ रहने चला गया। मैट्रिक की परीक्षा मैंने उन्हीं के घर पर रहकर दी।

पता नहीं क्यों, बचपन से ही खेल-कूद में मेरी विशेष रुचि नहीं थी। मैं

स्कूल में खेल-कूद में भाग नहीं लेता था। पढ़ने-लिखने में ही मेरा ज़्यादा मन लगता था। हाँ, कभी-कभी पटना लॉन (अब गाँधी मैदान) में फुटबॉल का खेल देख लिया करता था।

वेशभूषा के मामले में भी मैं सादगी पसन्द था। पता नहीं स्कूल के किसी दोस्त या सरस्वती-भवन का प्रभाव था कि मैं धोती-कुर्ता ही पहनता था। हालाँकि गाँधीजी का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, फिर भी स्वदेशी, भारतीयता और सादगी का असर मेरे ऊपर पड़ा। कॉलेज जाते वक्त सर्दियों में कभी-कभी कोट भी पहन लिया करता था, लेकिन अधिकतर मैं चादर से ही काम चला लेता था।

मैं सुबह उठकर ही नहा लेता था और गीता का पाठ किया करता था। गीता के कई अध्याय मुझे याद थे। *प्रिय प्रवास* पढ़ना भी मुझे अच्छा लगता था। इतिहास की कई किताबें मैंने पढ़ीं। शिवाजी, राणा प्रताप आदि का प्रभाव भी मेरे मन पर पड़ा। *सरस्वती* नाम की प्रसिद्ध पत्रिका भी उन दिनों मैं पढ़ा करता था। *प्रताप* भी। मैथिली शरण गुप्त की *भारत-भारती* भी मैं पढ़ता था। मैं वाद-विवाद जैसी प्रतियोगिता में हिस्सा नहीं लेता था क्योंकि मैं शर्मीला था।

स्कूल के दिनों में सरस्वती-भवन में रहते हुए मैंने तोताराम सानढ्य की गाँधीजी के बारे में लिखी किताब पढ़ी थी। वह किताब गाँधीजी के दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह पर आधारित थी। सत्याग्रह का अच्छा असर मुझ पर पड़ा। गाँधीजी से पहले गोखले का मुझ पर काफी असर पड़ा था। सरस्वती-भवन में ज़्यादातर लोग गोखले को मानने वाले थे। गोखले के देहान्त पर मैंने एक कविता भी लिखी। वह कहाँ गई, पता नहीं।

गाँधीजी जब बिहार आए, मैं स्कूल में ही था। 1919 में उनका आन्दोलन शुरू हुआ तो लोगों का ध्यान उन पर ज़्यादा नहीं गया। मैं तब पटना कॉलेज में पढ़ने लगा था। 1921 में गाँधीजी ने असहयोग आन्दोलन शुरू किया। हम लोग दुविधा में थे कि इसमें भाग लेना है या नहीं? उन्हीं दिनों मौलाना आज़ाद पटना आए। उन्होंने अपने भाषण में कहा कि "अँग्रेज़ों द्वारा दी जाने वाली शिक्षा ज़हर के समान है। यह गुलामी की शिक्षा है।" उनकी

इस बात का हम लोगों पर असर पड़ा और हम लोगों ने असहयोग आन्दोलन में हिस्सा लिया।

सरस्वती-भवन में रहते हुए ही हम लोग स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का भाषण सुनने गए। अपने भाषण में उन्होंने अमरीका के बारे में बताया। कैलिफोर्निया और वाशिंगटन के खेतों और कारखानों में काम करते हुए उन्होंने कैसे शिक्षा पाई, इसके बारे में भी बताया। बाद में मैंने उनकी किताब भी पढ़ी। अमरीका जाकर पढ़ने का आकर्षण मन में हो गया। इंग्लैण्ड जाकर पढ़ने के पैसे नहीं थे। अमरीका में कमाकर पढ़ा जा सकता था।

मैं विज्ञान पढ़ना चाहता था। विज्ञान पढ़कर अपने देश का विकास करना चाहता था। अपने देश का पिछड़ापन दूर करना चाहता था। यही सब सोचकर घरवालों की सहमति से 16 मई 1922 को कलकत्ता से जैनस नाम के एक जहाज़ से मैं अमरीका के लिए रवाना हो गया।

❖

रामवृक्ष बेनीपुरी

मेरी शैतानी को काव्य का महत्व मिल गया था

मेरा जन्म बिहार के मुज़फ्फरपुर ज़िले के बेनीपुर ग्राम में हुआ था। मेरी सही जन्मतिथि किसी को मालूम नहीं। मेरी माँ और पिताजी जल्दी ही गुज़र गए थे, इसलिए बहुत कोशिश कर भी मैं पता नहीं लगा पाया कि मेरा जन्म किस साल, किस तिथि को हुआ। बस इतना ही पता लग पाया कि वह पूस का महीना था। आगे चलकर स्कूल गया तो कोई तिथि लिखवा दी गई।

मेरी जन्मतिथि की याद किसी को भले न हो लेकिन मुझे यह याद है कि मेरा लालन-पालन बहुत लाड़-प्यार से हुआ था। मैं अपने माँ-बाप की पहली सन्तान था, वह भी उनके विवाह के बारह साल बाद माँ की गोद में आया था। माँ मुझे हमेशा कलेजे से चिपकाए रखतीं। आँगन से बाहर जाने देने से घबरातीं। मेरी सारी इच्छाएँ पूरी करतीं। माँ के लाड़-प्यार ने मुझे काफी ज़िद्दी और बिगड़ैल बना दिया था। कोई मुझे डाँटता-डपटता तो माँ ही रोने लगतीं। एक बार माँ बीमार थीं फिर भी मैं उनके बाल पकड़कर खींच रहा था। यह देखकर मेरी दादी ने मुझे एक चपत लगा दी। माँ ने मुझे कलेजे से लगा लिया और फूट-फूटकर रोने लगीं।

मैं ऐसा ज़िद्दी हो गया था कि हमेशा बेमौसम और बेवक्त की चीज़ों की माँग कर बैठता था। माँ मेरे लिए चिउड़ा (पोहा), मूठी (मुरमुरा), भुँजा, बताशे, लड्डू, केले, आम-जामुन, दूध-दही आदि सँजोकर रखतीं और मैं जब जिस चीज़ की माँग करता, हाज़िर कर देतीं।

मेरा दुर्भाग्य यह था कि माँ मुझे चार साल की उम्र में ही छोड़कर चली गई। बीमार तो वे मेरे जन्म के बाद से ही रहती थीं। उनकी मृत्यु का दृश्य भी मुझे याद है। मृत्यु के समय वे बार-बार पानी माँग रही थीं और कोई पानी देता तो पीती नहीं थीं। इधर-उधर नज़र दौड़ातीं। तब किसी बूढ़ी स्त्री ने अनुमान लगाया कि बेटे के हाथ से पानी पीना चाहती हैं। मुझे बुलाया गया। मेरे हाथ से पानी पीने के थोड़ी ही देर बाद माँ ने अपनी आँखें मूँद लीं।

माँ की मृत्यु मेरे लिए जितने दुर्भाग्य की बात थी, उतने ही सौभाग्य की बात यह थी कि मेरी दो मौसियों का ब्याह मेरे दो चाचाओं से हुआ था। मेरी बड़ी मौसी ने मेरी माँ का स्थान ले लिया। माँ की तरह ही वे मुझे कलेजे से लगाए रखतीं और मेरी ज़िदों को पूरी करतीं, बदमाशियाँ करने पर मेरा बचाव करतीं। माँ की मृत्यु के कारण घर के और लोग भी मुझे प्यार ही करते। मैं दिन-प्रतिदिन बिगड़ैल होता गया। हमेशा कोई न कोई खुराफात करता रहता। एक बार की बात है, मेरी दादी मुझे अपनी गोद में लिटाकर हुक्का पी रही थीं। मैंने ज़ोर से हाथ-पैर उछाल दिए। चिलम से निकलकर आग के कई गोले मेरे बदन पर गिर पड़े। मेरे शरीर में कई जगह फफोले पड़ गए।

एक दिन मैं लाख की चूड़ियाँ लेकर ताक पर रखे दीये से खेल रहा था। लाख का जलना मुझे बहुत अच्छा लग रहा था। मौसी बार-बार मना करतीं पर मैं इस खेल को बन्द नहीं करता। अचानक लहकती हुई लाख मेरी छाती पर गिर पड़ी। इससे छाती पर इतना लम्बा निशान पड़ा कि आज़ादी की लड़ाई में जेल जाने पर अपना यही निशान कार्ड पर दर्ज करवाता।

एक बार मैं कुत्ते से छेड़खानी कर रहा था। उसने झपटकर इतने ज़ोर से जाँघ पर काटा कि उसके दाँतों के निशान ही बन गए। दो बार तो मैं मरते-मरते बचा। एक बार खेत में काम कर रहे एक आदमी की चेतावनी के बावजूद मैं उसके नज़दीक पहुँच गया और उसकी कुदाल मेरे सिर पर जा लगी। दूसरी बार मैं एक दीवार के नीचे आ गया। मना करने के बावजूद एक तोड़ी जा रही दीवार के इस ओर से उस ओर मैं दौड़ रहा था। दीवार

गिर गई। मैं नीचे था, मेरे ऊपर छप्पर, और उसके ऊपर दीवार! किसी तरह मुझे उस मलबे से निकाला गया।

एक बार कूदकर मैं अथाह पानी में चला गया। उस बार भी मुझे मुश्किल से बचाया गया। मेरे पैरों और हाथों में मोचें अक्सर आया करती थीं। इस तरह अपने शरीर पर बने दागों का हिसाब तो मेरे पास है, मगर जो दाग मैंने दूसरों को दिए उनका हिसाब नहीं है।

मेरी एक शैतानी को तो काव्य का महत्व मिल गया था। मैं पिताजी के साथ बुआजी की ससुराल गया था। गर्मियों के दिन थे। दालान पर सभी सोए हुए थे। मुझे नींद नहीं आ रही थी। मेरे मन में शैतान घुस आया और मैंने सभी लोगों के जूते जमा कर अँगोछे में बाँध लिए। जाकर तालाब में उस पोटली को फेंक दिया। इधर जगने पर जब सबने अपने जूते गायब पाए तो खोज होने लगी। जूते कहीं मिल ही नहीं रहे थे। मेरी बुआ कभी-कभी मुझे शक की निगाह से देखतीं, लेकिन जूते फेंककर आने के बाद मैं बाबूजी की बगल में सो गया था इसलिए किसी को शक भी नहीं हुआ। तीन-चार दिनों के बाद नहाते हुए किसी के पैर उस पोटली से टकराए तो वे जूते निकले। तब मैंने अपना भण्डा अपने आप ही फोड़ दिया।

स्कूल जाने के नाम पर मुझे बहुत घबराहट होती थी। लोग मुझे टाँग-टूँगकर स्कूल पहुँचाते। स्कूल से बचने के लिए मैं मौसी की साड़ी से लिपटा रहता। मेरी बुआ कभी-कभी पुचकार कर और ज़्यादातर टाँगकर मुझे स्कूल पहुँचाती थीं। मैं उन्हें गालियाँ देता, हाथ-पैर चलाकर उन्हें चोट पहुँचाता, कभी दाँत से काट लेता। सब कुछ सहकर वे मुझे स्कूल पहुँचा आतीं। तब यह कहाँ पता था कि वह मेरी भलाई के लिए ही मुझे स्कूल ले जाती थीं? धीरे-धीरे मैं नियमित रूप से स्कूल जाने लगा। मैं मन लगाकर पढ़ने लगा। मेरी गिनती अच्छे विद्यार्थी के रूप में होने लगी।

मेरे बाबा धार्मिक व्यक्ति थे। बिना पूजा-पाठ किए अन्न ग्रहण नहीं करते थे। सबेरे उठते तो प्रभाती गाते। खेतीबाड़ी से निश्चिन्त होकर स्नान-ध्यान करते। दोपहर में लोगों को रामायण सुनाते। आसपास के गाँवों के लोग

भी उनसे रामायण सुनने को आते। बाबा चाहते थे कि मैं भी रामायण पढ़ना सीखूँ। मेरे लिए एक रामायण खरीदी गई और एक शुभ दिन को मेरे गुरुजी ने मुझे रामायण पढ़ाना शुरू किया। मेरे बाबा उस दिन बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने उस दिन गुरुजी को पुरस्कार भी दिया था।

माँ के जाने के पाँच साल बाद मेरे पिताजी भी इस दुनिया को छोड़कर चले गए। जब तक थे मुझे खूब प्यार किया। उनके जाने के बाद मेरे बाबा से अनुमति लेकर मेरे मामाजी मुझे अपने साथ बंशी पचड़ा ले गए। मामाजी के सिर्फ लड़कियाँ थीं। बेटे के रूप में उन्होंने मुझे स्नेह दिया। मामाजी के रूप में मैंने नया पिता पाया। मामाजी भी मेरी सारी इच्छाएँ पूरी करते, मुझे खुश रखने की कोशिश करते। मुझे अपने साथ ही भोजन कराते।

ननिहाल आने के बाद मुझमें एक अजीब परिवर्तन आ गया। मैं क्रमशः धार्मिक होता गया। सुबह सूर्योदय से पहले उठकर स्नान करता, पूजा-पाठ करता। माला जपता, हवन करता। रामायण पाठ करता। धीरे-धीरे रामायण कण्ठस्थ होने लगी। तुलसीदास की रामायण के इसी पाठ ने मेरे हृदय में साहित्यिकता का बीज बोया।

मामाजी के पास कई पुस्तकें थीं। उनमें से *सूरसागर*, *सुखसागर*, *प्रेमसागर*, *महाभारत*, *बैताल पच्चीसी*, *सिंहासन बत्तीसी*, *जगत्-विनोद* आदि पुस्तकें मैं कभी-कभी पढ़ता। मगर मेरी प्रिय पुस्तक *रामायण* ही थी। *रामायण* पढ़ते मैं अघाता नहीं था। *रामायण* को ठीक से समझने की ललक ने मुझसे *रामायण* की कई टीकाएँ भी पढ़वाईं। *रामायण* के अलावा मैं तुलसीदास की अन्य पुस्तकें भी पढ़ गया। *विनय पत्रिका* ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया। इन पुस्तकों को पढ़ते हुए मैं बिलकुल राममय हो गया था। सपने में मैं कभी राम के साथ पुष्प-वाटिका में होता, कभी चित्रकूट में तो कभी लंका की रणभूमि में। एक बार एक साधु को मैंने अपने सपनों की बात बताई तो वे कहने लगे, "तुम बड़े भाग्यवान हो, तुम्हें सपने में राम दर्शन देते हैं!"

ननिहाल में लोअर प्राइमरी की पढ़ाई पूरी कर मैं उर्दू पढ़ने लगा। फारसी

भी सीखी। मेरे मामाजी चाहते थे कि मैं उर्दू-फारसी पढ़कर शहर में मुंशी का काम करूँ, लेकिन अचानक मेरे जीवन में एक ऐसा मोड़ आया कि मेरी दिशा बदल गई।

उस दिन मेरी ममेरी बहन की बिदाई थी। मेरे बहनोई आए हुए थे। उनसे मेरा परिचय कराया गया। उन्होंने मेरी पढ़ाई-लिखाई के बारे में पूछा। उन्होंने मुझे उर्दू-फारसी की जगह अँग्रेज़ी पढ़ने की सलाह दे डाली। उन्होंने मुझे अपने साथ चलने को भी कहा। मामाजी ने मुझे उनके साथ भेज दिया। मेरी उर्दू-फारसी छूट गई। उसकी जगह अँग्रेज़ी की वर्णमाला सामने आई। *रामायण* और वे चार-पाँच पुस्तकें छूट गईं, हिन्दी में नई-नई पुस्तकें मिलने लगीं। अखबार और पत्रिकाएँ देखने को मिलने लगीं। हवाई जहाज़, पनडुब्बी, तोप वगैरह की बातें जानने लगा। आज़ादी, गुलामी, देशभक्ति आदि के बारे में भी पता चला। अँग्रेज़ों को मार भगाने की बातें सुनाई देने लगीं। मेरे दिमाग से पूजा-पाठ की बातें निकलने लगीं। इनकी जगह देशभक्ति भरने लगी।

मैं पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ, कविताएँ, लेख वगैरह पढ़ता। मुझे नए-नए कवियों और लेखकों का पता चलता। मिडिल स्कूल के एक अध्यापक के बारे में पता चला कि वे कविता करते हैं तो आश्चर्य हुआ। स्कूल के सेक्रेट्री के लेख अखबार में छपने के बारे में जानकर तो और भी आश्चर्य हुआ। तभी मेरे मन में यह भावना जगी कि क्या मैं कवि नहीं हो सकता? क्या मैं लेख नहीं लिख सकता? शिक्षकों और लड़कों को मंच पर बोलते देख मैं सोचता कि काश! मैं भी ऐसा बोला पाता!

रहन-सहन में भी मैंने बहुत-सी नवीनताएँ देखीं, लेकिन मैंने उनको अपनाया नहीं। बचपन की धार्मिक प्रवृत्तियों ने मुझे फैशन वगैरह से दूर रखा। हाँ, मैं अपने बहनोई के एक चचेरे भाई के साथ एक दिन सिगरेट पी गया। मेरे बहनोई को इस बात का पता चला तो उन्होंने अपने भाई की तो अच्छी मरम्मत की लेकिन मुझे चेतावनी देकर छोड़ दिया। इसके बाद दुर्भाग्यवश मेरे बहनोई की मृत्यु हो गई। उनकी बात मानकर मैंने अगले पच्चीस वर्षों तक कोई नशा नहीं किया। जेल में एक बहुत ही प्रिय दोस्त

बहुत ही प्रिय दोस्त का आग्रह मैं नहीं टाल सका और दुबारा सिगरेट पीने लगा।

बहनोई की मृत्यु के बाद मैं अपने ज़िला मुख्यालय मुज़फ्फरपुर में रहने लगा। यह वही शहर था जहाँ खुदीराम बोस ने भारत के इतिहास में पहली बार बम पटका था। खुदीराम बोस के मुकदमे में जिस वकील ने उनका पक्ष लिया था वे मेरे स्कूल के पास ही रहते थे। उन्हें हम श्रद्धा से देखते थे। एक सिपाही जी जो फाँसी के पहले खुदीराम बोस के पहरेदारों में से थे हमारे डेरे पर आते थे। उनसे हम जेल की बातें पूछा करते थे।

उन दिनों लाल, बाल, पाल के नाम भी मैंने सुने। गाँधीजी अफ्रीका से लौटकर आए थे। उन्हें चम्पारण जाते हुए स्टेशन पर देखा भी। इन सबका असर मेरे ऊपर हुआ। देशभक्ति की भावना मेरे अन्दर जगी ही, मैं आदर्श विद्यार्थी बनने की दिशा में लग गया। सादा जीवन जीता, सादा खाना खाता। पढ़ाई में ध्यान देता। परीक्षाओं में प्रथम आता। अपने ज्ञान को बढ़ाने के लिए *मॉडर्न रिव्यू*, *ज़माना* और *भारत वर्ष* जैसी अँग्रेज़ी, उर्दू और बांग्ला पत्रिकाएँ पढ़ता।

❖

लाल बहादुर शास्त्री

माली ने मुझे समझाया

मेरे पिता शारदा प्रसाद अध्यापक थे। वे इलाहाबाद की कायस्थ पाठशाला में पढ़ाते थे। उनका घर बनारस के नज़दीक रामनगर कस्बे में था। वहीं 2 अक्तूबर 1904 को मेरा जन्म हुआ। मैं अपने माता-पिता की पहली सन्तान था। मेरी माँ रामदुलारी देवी मुझे प्यार से 'नन्हें' कहती थीं। 'बचवा' भी कहती थीं।

जैसा कि मुझे बाद में पता चला, जब मैं चार महीने का था तो एक बार मैं माता-पिता से बिछुड़ गया। माता-पिता मुझे लेकर प्रयाग के माघ मेले गए थे। वहीं भीड़ के धक्के से माँ गिर गईं और मैं उनकी पकड़ से छूट गया। जब माँ सम्हलीं तो मैं कहीं दिखाई नहीं पड़ा। माँ चीखने-चिल्लाने लगीं। पता नहीं किसने उनके बच्चे को चुरा लिया था? पिता ने मुझे चारों ओर ढूँढना शुरू किया। मैं कहीं नहीं था। मैं तो एक ग्वाले की टोकरी में गिर गया था। वह निःसन्तान ग्वाला मुझे भगवान की देन मानकर लेता गया था। सर्दी से बचाने के लिए उसने मुझे अपने कपड़ों में लपेट दिया था और रोता देखकर कपड़े में दूध भिगोकर पिला दिया था।

माता-पिता का दुख सुनकर और लोग भी मुझे इधर-उधर ढूँढने लगे। पुलिस को भी सूचना दे दी गई। लेकिन मैं कहीं मिल नहीं रहा था। आखिर पिता की नज़र एक नाव में टोकरी में लेटे एक बच्चे पर गई। उन्होंने देखा वह मैं ही था। वे ग्वाले के पास गए लेकिन ग्वाला मुझे लौटाने को तैयार नहीं था। तभी पुलिस वहाँ पहुँच गई। जब ग्वाले ने देखा कि बच्चा उसे नहीं मिल सकता तो उसने कुछ और झटक लेना चाहा। उसने पिताजी

से कहा, "तुम्हारे बच्चे ने मेरा अँगरखा खराब कर दिया है।" पिताजी ने उसे अपना ऊनी शाल दे दिया। ग्वाला इतने से सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसे अपने दूध की याद आई। पिताजी ने दूध के बदले उसे पाँच रुपए पकड़ाए।

मैं सिर्फ डेढ़ साल का था कि पिताजी चल बसे। मेरे नाना हज़ारीलाल जी पढ़े-लिखे, समझदार व्यक्ति थे। वे मेरी माँ को बहुत प्यार करते थे। मेरी माँ का दुख उनसे नहीं देखा गया। वे हमें अपने यहाँ लेते गए। नानाजी भी एक स्कूल में अध्यापक थे। आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी लेकिन परिवार में मेल-जोल था। उनका परिवार संयुक्त परिवार था।

नानाजी मुझे बहुत प्यार करते थे। सम्भवतः उन्होंने मुझे पिता से भी अधिक प्यार किया। स्कूल से लौटकर वे मुझे गोद में उठा लेते, दुलारते। मेरी अटपटी बातों पर हँसते। दुर्भाग्यवश दो साल बाद ही नानाजी की भी मृत्यु हो गई। नानाजी के छोटे भाई पर पूरे परिवार का बोझ आ गया। उन्होंने पूरी कोशिश की लेकिन आर्थिक स्थिति लगातार खराब ही होती गई। माँ दिन भर काम करतीं, बिना शिकायत के सब कुछ सहतीं। मुझे उनकी उन तकलीफों का पता नहीं था। मेरा जीवन आराम से कट रहा था। मैं स्कूल भी जाता, परिवार के अन्य बच्चों के साथ खेलता भी। पास-पड़ोस के सम्पन्न बच्चे हॉकी या फुटबॉल खेलते। हॉकी या फुटबॉल खरीदना हमारे लिए मुश्किल था। इसकी जगह हम खजूर के फूलों को रद्दी कपड़ों में लपेटकर फुटबॉल बना लेते, पेड़ों की मज़बूत टहनियों को काटकर उसका हॉकी स्टिक बना लेते। इन्हीं सामानों से हम पड़ोस के लड़कों से मैच खेलते।

नानाजी के नहीं रहने पर भी परिवार के बड़े मुझे प्यार करते। जिस बात पर घर के दूसरे बच्चों को डाँट पड़ती उस पर भी मुझे कुछ नहीं कहा जाता। सभी कहते, 'बेचारे का बाप नहीं है, उसे कुछ मत कहो!' मैं इस बात पर बच जाता। इस बात को मैं कभी-कभी दण्ड से बचने के लिए इस्तेमाल भी करता। एक बार ऐसा हुआ कि अन्य लड़कों के साथ मैं भी एक बगीचे में फल तोड़ रहा था। माली के आने पर सभी भाग गए। कोई दीवार फाँद गया, कोई झाड़ी में छुप गया। मैं उस दल में सबसे छोटा था।

मैं पकड़ लिया गया। माली ने मुझे ज़ोर से एक चाँटा मारा। मैंने रोते हुए उसे कहा, "तुम्हें नहीं पता कि मेरे पिता नहीं हैं? तुमने मुझे क्यों मारा?" माली ने मुझे प्यार से समझाया, "बच्चे! तब तो तुम्हें और अच्छा व्यवहार करना चाहिए।" माली की इस बात का मेरे बाल-मन पर बहुत प्रभाव पड़ा।

एक बार मेरे चाचा हम लोगों को ले जाने के लिए आए थे। उन्होंने मुझे गोद में बैठाकर प्यार भी किया, लेकिन ननिहाल से कहीं जाने की बात मैं सोच भी नहीं सकता था। अच्छा ही हुआ कि ननिहाल वालों ने हमें चाचा के साथ जाने नहीं दिया।

छठी कक्षा पास करने के बाद उन दिनों मुगलसराय में पढ़ने का कोई साधन नहीं था। माताजी ने मुझे बनारस भेजने का निश्चय किया। बनारस में उनके रिश्ते के भाई रहते थे। उन्होंने मुझे रखना स्वीकार कर लिया। मैं वहाँ चला गया। वह परिवार आर्थिक रूप से समृद्ध था लेकिन वहाँ मुझे थोड़ी कठिनाई होती थी। परिवार वाले मुझे अपने बराबर का नहीं मानते थे। मुझे अपने साथ खिलाते भी नहीं थे। डाँटते-डपटते भी थे। जब और बच्चे बाहर खेल रहे होते तब मुझे काम करने पड़ते थे। त्यौहारों के दिन जब पकवान बनते तो औरों को दिए जाते, मुझे नहीं। मैं अपमानित महसूस करता। बाहर निकलकर अकेले बैठ जाता या छज्जे पर जाकर बैठ जाता।

एक बार की बात है, उसी परिवार में रहने वाले एक और गरीब लड़के को हैज़ा हो गया। कोई उसके पास नहीं जाता था। मुझे ही उसकी देखभाल के लिए भेज दिया गया। रात में उसकी हालत बिगड़ गई। वह मर गया। मुझे वह दृश्य देखकर बहुत दुख हुआ। मैं खूब रोया।

अगले दिन लड़के की अरथी जाने के बाद उसके सभी कपड़े मुझे धोने को कहा गया। मैं उसके गन्दे कपड़े लेकर कुएँ पर गया। कपड़े धोते हुए मैं रोता रहा। तभी पता नहीं कहाँ से माँ आ गईं। मैं दौड़कर उनसे लिपट गया। उन्हें पूरी बात बता दी। माँ ने मुझे छाती से चिपटा लिया। वे भी रोने लगीं। लेकिन वे जानती थीं कि मुगलसराय में मेरी पढ़ाई नहीं हो सकती। फिर माँ के चाचाजी की आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी नहीं थी कि मुझे

हॉस्टल में रखकर पढ़ाया जाता। इसलिए उन्होंने मुझे समझाया-बुझाया, वहीं रहते रहने को तैयार किया।

बनारस में जिस हरीशचन्द हाई स्कूल में मैं पढ़ता था वहाँ का माहौल बहुत अच्छा था। स्कूल के एक शिक्षक थे निष्कामेश्वर प्रसाद मिश्र। वे क्लास टीचर तो थे ही, अँग्रेज़ी भी पढ़ाते थे। वे स्काउट मास्टर भी थे। उन्होंने मुझे नई दिशा दी। वे सच्चे गुरु थे। छात्रों की रुचि और बुद्धि के हिसाब से वे छात्रों को प्रेरित करते थे। वे चाहते थे कि छात्र चरित्रवान बनें और देश-सेवा करें। कोर्स जल्दी खत्म कर वे कक्षाओं में महापुरुषों की जीवनी सुनाते। देशभक्तों की कहानियाँ सुनाते। सन्तों, मुनियों, दार्शनिकों के बारे में बताते। स्काउट मास्टर के रूप में छात्रों को समाज-सेवा की ओर प्रेरित करते। वे छात्रों के साथ हँसते-बोलते भी थे, खेलते भी थे।

एक बार मिश्र जी छात्रों को नदी के उस पार लगने वाले मेले में ले जाने वाले थे। उन्होंने सभी बच्चों से एक-एक आना लाने को कहा। सब लेकर आए। मेरी जेब में सिर्फ एक पैसा था। मैं चुपचाप एक कोने में खड़ा था। मिश्र जी ने पूछा, "तुम नहीं चलोगे?" मैंने कहा, "मुझे मेला उतना अच्छा नहीं लगता है।" मास्टर साब ने पूछा, "पैसे लाए हो?" मैंने कहा, "हाँ।" उन्होंने देखने के लिए जब मेरी जेब में हाथ डाला, उन्हें एक पैसा पड़ा मिला। मिश्र जी सभी बच्चों को लेकर मेला चले गए। लौटकर आए तो मुझसे बोले, "चलो, मेरे साथ!" रास्ते में वे मेरे घर-परिवार के बारे में पूछते रहे। वे मुझे अपने घर लेकर गए। पत्नी से कहा, "देखो, तुम्हारे लिए एक लड़का लाया हूँ।" पत्नी ने सोचा काम-धाम के लिए कोई लड़का लेकर आए हैं। लेकिन जब मिश्र जी ने कहा, "अब से हमारे चार बेटे हो गए," तब उन्होंने समझा। भाबो (मिश्र जी की पत्नी) मुझे खूब प्यार करने लगीं। मैं जब उनके यहाँ जाता, वे अच्छी-अच्छी चीज़ें बनाकर खिलातीं। घर के बच्चे भी मेरे साथ अच्छा व्यवहार करते। वे मुझे बड़ा भाई मानते।

एक दिन मिश्र जी मेरे सम्बन्धी के घर आए और बोले कि लाल बहादुर मेरे

बच्चों को एक घण्टा ट्यूशन पढ़ा दिया करे। ट्यूशन के बहाने मिश्र जी दरअसल मुझे रोज़ घर बुलाना चाहते थे। वहाँ जाने पर भाबो कुछ न कुछ खिलाए बिना नहीं मानतीं।

एक महीना बच्चों को पढ़ाने के बाद भाबो मुझे फीस के रूप में रुपए देने लगीं। मैं रुपए लेने को राज़ी न हुआ। मैंने कहा, "आपने ही तो कहा था कि ये मेरे भाई हैं। भाइयों को पढ़ाने के बदले में पैसे कैसे ले सकता हूँ?"

मेरी बात का भाबो कोई जवाब नहीं दे सकीं, लेकिन वे चुपचाप मेरे पैसे जमा करती रहीं और मेरी बहन की शादी के वक्त करीब नौ सौ रुपए मेरी माँ को किसी तरह पकड़ा ही दिए।

जहाँ तक पढ़ाई की बात है, मैं पढ़ने में बहुत तेज़ नहीं था। मैं अंकगणित में कमज़ोर था। बीजगणित और रेखागणित में तेज़ था। अँग्रेज़ी मेरा प्रिय विषय था। मेरा उच्चारण भी ठीक ही होता था, इसलिए स्कूल में कभी इंस्पेक्टर या कोई विशिष्ट अतिथि आते तो अध्यापक मुझे ही पढ़ने को खड़ा कर देते।

स्कूल में मैं नाटकों में भी हिस्सा लेता था। एक बार एक प्रहसन में मैं धोबी बना। सिर पर पग्गड़ पहने मैले-कुचैले कपड़ों का गट्ठर लादे मैंने एक पुरबिया विरहा दर्शकों को सुनाया। दर्शक मुग्ध हो गए। एक बार महाभारत की एक कथा पर आधारित नाटक में मैं कृपाचार्य बना था।

मैं बचपन से ही तैरना जानता था। नदी पास में ही थी, तैरना सीख गया। कभी-कभार पार-उतराई के पैसे न होने पर मैं तैरकर ही नदी पार कर जाता था। एक बार की बात याद है। मैं दोस्तों के साथ गंगा पार मेला देखने गया। हमने दिन भर खूब मस्ती की। लौटते वक्त मैंने देखा कि मेरी जेब में पैसे ही नहीं बचे हैं। मैंने दोस्तों को कहा, "तुम लोग जाओ। मैं कुछ देर और मेला देखूँगा।" मैं रुक गया। और जब रात हो गई तो अँधेरे में चुपके से तैरकर नदी पार कर गया।

एक बार तो मैं तालाब में ही डूबने लगा। हुआ यह था कि मिश्र जी की छोटी बेटी को पीठ पर बैठाकर तालाब में छपा-छप कर रहा था। बच्ची खुश हो

रही थी कि अचानक मैं गहरे पानी में चला गया। मेरा सन्तुलन बिगड़ गया। बहुत मुश्किल से मैंने अपने को और उस बच्ची को बचाया।

स्कूल में मिश्र जी से स्वतंत्रता संग्राम और देशभक्तों की कहानियाँ सुनते-सुनते मेरे मन में आया कि मैं भी अपनी मातृभूमि की सेवा करूँगा। मैं समय निकालकर महापुरुषों की जीवनियाँ भी पढ़ता था। उनके सद्‌गुणों पर चलने की कोशिश करता था। ग्यारह वर्ष की उम्र में मैंने महात्मा गाँधी का भाषण सुना था। फिर तिलक को देखने पैसे उधार लेकर पचास मील दूर गया था। तिलक का भाषण सुनकर लौटने के बाद मेरे कानों में "स्वराज हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है" गूँजता रहा था।

आज़ादी की लड़ाई ज़ोर पकड़ रही थी। लोगों में राष्ट्रीयता की भावना भरने लगी थी। 1917 में चम्पारण-सत्याग्रह सफल हो गया। 1919 में जलियाँवाला बाग काण्ड हुआ। 1920 में गाँधीजी ने सविनय अवज्ञा और असहयोग आन्दोलन शुरू करने का प्रस्ताव दिया। उन्होंने सभी से इस आन्दोलन में कूदने का आह्‌वान किया। मैं तब सोलह साल का था। मैंने महात्मा गाँधी के पदचिह्नों पर चलने का संकल्प लिया।

उन दिनों स्कूल में परीक्षाएँ हो रही थीं। कुछ छात्र ज़मीन पर लेटकर छात्रों को परीक्षा भवन में जाने से रोक रहे थे। मैं परीक्षा दिए बिना लौट आया। इस पर घर के बुज़ुर्गों ने मुझे नालायक तक कहा। मिश्र जी ने बुलाकर मुझे समझाया, "तुम्हारी माँ मुसीबत की ज़िन्दगी गुज़ार रही है। तुम्हें अपनी बहनों की शादी करनी है। तुम्हें परीक्षा देनी चाहिए।" पहली बार मैंने अपने गुरु की सलाह नहीं मानी। मैंने कहा, "मैं भारत माता की पुकार को अनसुना नहीं कर सकता।"

मैं अपनी माँ से मिलने रामनगर गया। माँ से मैंने पूछा, "क्या तुम भी मेरे काम को गलत मानती हो?" माँ ने मेरे कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "मुझे तुम पर विश्वास है। तुमने सोच-समझकर ही कोई कदम उठाया होगा। अब कदम आगे बढ़ाकर पीछे नहीं हटना।"

माँ का आशीर्वाद पाकर मैं बनारस लौट आया। मैं छात्र आन्दोलन में

शामिल हो गया। जुलूस में हिस्सा लेते हुए मैं पहली बार 1921 में गिरफ्तार हुआ। उस बार हमें चेतावनी देकर छोड़ दिया गया।

आन्दोलन शान्त होने पर मैं काशी विद्यापीठ में भर्ती हुआ। विद्यापीठ में हमें सादगी, कर्मठता, देश भक्ति के बारे में और सीखने को मिला। छह-सात मील चलकर मैं विद्यापीठ पढ़ने जाता। दाल-रोटी खाता। विद्यापीठ में पढ़ते हुए ही मैंने शहर में खादी की एक दुकान पर काम करना शुरू कर दिया। विद्यापीठ से लौटकर मैं दुकान पर जाता। रविवार को और छुट्टियों के दिन काम कर पैसे कमाता। कुछ अपने लिए रखकर बाकी माँ को भेज देता।

विद्यापीठ में चार साल पढ़कर मुझे शास्त्री की उपाधि मिली। मैं प्रथम श्रेणी में पास हुआ। उस समय मेरी उम्र बाईस वर्ष की हो गई थी।

❖

अशोक कुमार

मैं बहुत ऊधमी था

हम लोग खण्डवा के रहने वाले हैं। मेरी माँ भागलपुर की थीं। पिताजी की शादी इतनी दूर होने का शायद एक कारण था। मेरे नानाजी काफी सम्पत्ति वाले थे। वे अक्सर बीमार रहा करते थे। उन्होंने सोचा होगा कि कोई ऐसा लड़का मिले जो जायदाद और बिटिया की रक्षा कर सके। मेरे पिताजी देखने में पहलवान जैसे थे, शायद इसलिए नानाजी ने उन्हें ढूँढकर निकाला। हाँ, वे यह पता लगाना नहीं भूले कि लड़का ब्राह्मण है या नहीं।

मेरा जन्म 13 अक्तूबर 1911 को भागलपुर में हुआ। यह तेरह तारीख कुछ गड़बड़ थी। यीशु को उसी दिन सूली पर चढ़ाया गया था। मेरे जन्म के दिन मेरी दादी सीढ़ी से गिर पड़ीं और उनकी मृत्यु हो गई। मेरी शिक्षा की शुरुआत भी कुछ इसी तरह हुई। मेरी पाटी-पूजा के दिन हेडमास्टर कलम पकड़ाने की रस्म पूरी करने आने वाले थे। ऐन वक्त पर पता चला कि वे आते-आते सीढ़ी से गिर पड़े।

इसी तरह खण्डवा में जिस दिन मेरा जनेऊ था, मुहूर्त होने पर पण्डित नदारद थे। पता चला उनका हार्ट-फेल हो गया।

मेरे पिता कुंजीलाल गांगुली वकील थे। मुझे उनसे बहुत प्यार था। जीवन भर मैं उन्हें सम्मान से देखता रहा। वे शुरू में गरीब थे – माँ की तरह अमीर नहीं। उन्होंने अपनी मेहनत के दम पर पढ़ाई-लिखाई की थी, वकील बने थे। मेरी माँ बहुत नेचुरल थीं। उनके उठने, बैठने, बोलने,

चलने में एक सादी मगर दिल को छू लेने वाली लय थी। मैं उन्हें बार-बार देखता और सोचता कि ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए।

नानाजी ने ही मेरा नाम अशोक कुमार रखा था। लन्दन से उन्होंने खिलौनों का जो पार्सल मँगवाया था वह भागलपुर में अशोक कुमार के नाम से ही आया था। पिताजी ने नाम कुमुदलाल रखा था।

खण्डवा में संस्कृत के शिक्षक रामचरण दास जोशी ने मेरी जन्म कुण्डली बनाई थी। कहा था, "यह आगे चलकर बड़ा वकील बनेगा।" मैं वकील तो बना मगर फिल्मों में।

बचपन में मेरा मिज़ाज बिजली जैसा था। जाने कब, कहाँ टूट पड़े। अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना ठीक नहीं, लेकिन सारे खण्डवा में मेरे जैसा ऊधमी बच्चा नहीं रहा होगा। खेल-कूद का भी मुझे बहुत शौक था। हॉकी में सबसे ज़्यादा मन लगता। घूमने-फिरने और सैर-सपाटे में भी वक्त गुज़रता था। शरारतें करने वाले, नकल करने वाले और फालतू घूमने वाले बच्चे को नेक नहीं माना जाता था। बचपन में मैंने कभी-कभार छोटी-मोटी चोरियाँ तक कर डाली थीं। एक घटना याद है। खण्डवा में हर साल सत्यनारायण का मेला लगता था। मेरे घर से कुछ ही दूरी पर सत्यनारायण का मन्दिर था। एक बार मेले में एक खिलौने वाला खिलौने बेच रहा था। मैं उन दिनों करीब ग्यारह साल का था और तीसरी में पढ़ता था। मेरी बहन पाँच साल की थी, मेरे साथ मेला घूमने गई थी। उन खूबसूरत खिलौनों को देखकर हम दोनों का मन ललचा गया। आँखों-आँखों में इशारा हुआ। एक खिलौना मैंने झपटा, दूसरा बहन ने।

हम लोग भागने लगे। पीछे 'चोर-चोर', 'पकड़ो-पकड़ो' का शोर हुआ। हम सीधे घर में घुसे। दो घण्टे बाद पिताजी आए। उन्हें बाहर ही लोगों ने हमारी करतूत के बारे में बता दिया था। बहन तो डाँट-डपट पर छूट गई लेकिन मेरी ऐसी पिटाई हुई कि दिन में तारे नज़र आने लगे।

बचपन में एक बार और बुरी तरह पिटा था। पिताजी के एक मित्र थे। पता नहीं क्यों 'टुनिया' पुकारने से चिढ़ते थे। मुझे और मेरे दोस्तों को जैसे ही

यह राज़ पता चला, हम उन्हें "टुनिया" पुकारने लगे। वकील साहब ने घर जाकर शिकायत कर दी। फिर पिताजी ने वह पिटाई की कि आज तक नहीं भूल पाया।

बचपन में मुझे फोटोग्राफी का बहुत शौक था। मैं एक कैमरा खरीदना चाहता था जो उन दिनों चौदह रुपए में मिलता था। इतनी बड़ी रकम घरवालों से एक साथ मिलना सम्भव नहीं था। स्कूल जाते वक्त रोज़ एक आना जेब खर्च का जो मिलता था उसको जमा करने पर भी कैमरा खरीदना मुश्किल था। इसलिए मैंने बूँद-बूँद कर सागर भरने की ठानी। जब भी मौका मिलता, कभी पिताजी की जेब से, कभी अलमारी से, रुपया-आठ आना मार लेता। जब चौदह रुपए जमा हो गए, तो मैंने पैसे चुराना छोड़ दिया और जाकर कैमरा खरीद लिया। पिताजी ने घर में कैमरा देखा तो उसके बारे में पूछा। मैंने उन्हें झाँसा देना चाहा कि जेब खर्च बचाकर उसे खरीदा है। पिताजी हँस दिए। बोले, "हाँ, इसीलिए तो मेरी जेब से कभी रुपया, कभी अठन्नी गायब हो जाती है!" और यह पहली ही बार था कि पिताजी ने मुझे नहीं पीटा।

मुझे अपने स्कूल – मेहता स्कूल – की भी याद है। डबल गेट होने के कारण इसे 'डबल फाटक स्कूल' बोलते थे। मैट्रिक तक की पढ़ाई मैंने खण्डवा के इसी स्कूल से की। मैं कभी फेल नहीं हुआ। फेल होता भी कैसे? परीक्षा में नकल का सहारा जो लेता था! कभी हथेली पर लिखकर ले जाता, कभी आस्तीन के अन्दर, कभी बाज़ुओं पर। जूतों के मोज़ों के अन्दर भी कागज़ के पुर्ज़े छिपाकर ले गया।

मैंने सपने में भी नहीं सोचा था कि मैं एक्टर बनूँगा। अभिनय वगैरह में मेरी ज़रा भी दिलचस्पी नहीं थी। एक बार पिताजी स्कूल के स्टेज पर ले गए। छोटा-सा रोल था। मुझे एक स्टेशन पर बैठना था और हीरो-हीरोइन के आने पर 'चलो भाई, गाड़ी का वक्त हो गया' कहकर स्टेज से चले जाना था। मगर मैं अपनी जगह से हिला भी नहीं। पेपर से मुँह ढँककर बैठा रहा। स्टेज के पीछे से लोग चिल्लाने लगे, "अरे, उठ! भीतर आ!"

हाँ, मैं नाटक अक्सर देखा करता था। खासकर तब जब पूजा की छुट्टियों

में पूरा परिवार भागलपुर आ जाता था। भागलपुर में 'आदमपुर ड्रामेटिक सोसाइटी' थी। इनके नाटकों को देखता। पिताजी मुझे कलकत्ता ले जाते तो वहाँ प्रसिद्ध नाटककार शिशिर भादुड़ी वगैरह के नाटक देखता था। एक बार मैं मामा के साथ कोई नाटक देखने गया। नाटक में पता नहीं क्यों मेरा मन नहीं लग रहा था। लौटते हुए मैंने मामा से पूछा, "एक बात बताइए। स्टेज पर इन अभिनेता-अभिनेत्रियों को क्या बीमारी हो जाती है कि ये अलग लहज़े में बोलने लगते हैं?"

"अरे भाई! नाटक की भाषा ज़रा अलग होती है," मामा ने समझाना चाहा। लेकिन मैंने कहा, "क्यों अलग होती है? जैसा हम सुबह-शाम बोलते हैं, वैसा नाटकों में क्यों नहीं बोलते?"

मामा घर आकर नाना से कहने लगे, "कुमुद नाटक कम देखता है, बहस ज़्यादा करता है।" नाना हँसकर रह गए, लेकिन मैं बचपन में ही समझ गया कि नाटकों में जो भाषा बोली जाती है वह किताबी है। जैसा हम जीवन में बोलते हैं, वैसा ही ड्रामे में भी बोलना चाहिए। मेरे लिए पहला गुरुमंत्र यही बना। आगे चलकर इसी सहजता का ध्यान रखा मैंने।

बचपन में मुझे कहानियों का बहुत शौक था। मेरी माँ काफी पढ़ी-लिखी थीं। वे मुझे शेक्सपियर, थॉमस हार्डी, डिकेन्स और आर्थर कॉनन डॉयल जैसे लेखकों की कहानियाँ सुनाया करती थीं। शरलॉक होम्स के कारनामे मुझे बहुत पसन्द आते थे। विदेशी जासूसी साहित्य का मेरे बाल मन पर गहरा प्रभाव रहा। बड़ा होने पर जब मैं आर्थर कॉनन डॉयल की कहानियाँ पढ़ रहा था तो उनके अन्त का अन्दाज़ मुझे पहले ही से हो जाता था। मैं हैरान था। तब मुझे याद आया कि ये तमाम कहानियाँ मुझे बचपन में माँ सुना चुकी थीं। माँ के अलावा दादी मुझे *रामायण* की कहानियाँ सुनाया करती थीं।

कहानियाँ सुनने का शौक मुझे इतना ज़्यादा था कि भागलपुर में नानाजी ने मामा के एक गरीब दोस्त को कहानियाँ सुनाने के लिए रख दिया था। लेकिन मैं उलटे उसे ही इधर-उधर से गढ़कर कहानियाँ सुनाया करता था। दाल या सन्देश कैसे बनते हैं, खिचड़ी कैसे बनती है – इस तरह की

कहानियाँ। वह लड़का जाकर नानाजी से शिकायत करने लगा। नानाजी ने कहा, "कोई बात नहीं, तुम्हीं इससे कहानी सुना करो।"

इस घटना के बीस साल बाद मैं 'न्यू थिएटर' में काम करने कलकत्ता गया। वहाँ एक दिन शरत बाबू (शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय) आए। मैंने उनको नमस्कार किया। उन्होंने पूछा, "मुझे पहचाना?" मैंने कहा, "आपको कौन नहीं जानता?" इस पर वे बोले, "नहीं, तुम मुझे नहीं जानते हो। भागलपुर में तुम जिसे कहानियाँ गढ़कर सुनाया करते थे, मैं वही छोकरा हूँ।"

मैं हैरान रह गया। मैं कभी उस कहानीकार को कहानियाँ सुना गया था जिनकी कहानियों पर बनी फिल्म में मैं खुद पात्र बना!

मैं अपने नानाजी को भी गढ़कर कहानियाँ सुनाया करता था। एक बार मैंने उनको एक कहानी सुनाई। उस कहानी में मैं जंगल घूमने को गया था। वहाँ बहुत से जानवर थे। एक शेर भी वहाँ आ गया। मैंने कहा, "और कोई होता तो शेर देखकर छुप जाता, लेकिन मैं खड़ा रह गया। शेर ही मुझे देखकर भाग गया।"

मेरी कहानी सुनकर नानाजी खूब हँसे। मुझे लगा कि मेरी कहानी उन्हें बहुत पसन्द आई है।

❖

मलका पुखराज

महाराज ने मेरी तारीफ की

जम्मू-कश्मीर रियासत में अखनूर से नौ मील दूर चनाब नदी के किनारे एक छोटा-सा गाँव था, हमीरपुर। वहीं 1912 में मेरा जन्म हुआ। मेरे गाँव में एक चमत्कारी बाबा थे जो हर मौसम में बिना कपड़ों के ही रहते थे। गाँव वालों ने उनका नाम बाबा रोटीराम रखा था। गाँव वाले उनसे आशीर्वाद लेने जाते थे। मेरे जन्म के बाद मेरे नाना मुझे लेकर उनके पास गए। बाबा ने कहा, "यह मलका-ए-मौज़म्मा है। एक दिन इसका बोल-बाला होगा।"

मेरी माँ की एक निःसन्तान चचेरी बहन थीं। मेरे जन्म से पहले ही वे मुझे अपना मानने लगी थीं। लड़की के रूप में जन्म लेने पर वे मेरा नाम पुखराज रखने वाली थीं। घर वाले उनको भी दुखी करना नहीं चाहते थे, इसलिए बाबा के दिए 'मलका' नाम में 'पुखराज' जोड़कर मेरा नामकरण कर दिया गया मलका पुखराज!

मेरा लालन-पालन बहुत ही लाड़-प्यार के साथ किया गया। मुझे प्यार करने वाले बहुत से लोग थे – वो मौसी जिन्होंने मेरा नामकरण किया था, नानाजी की एक बहन जिन्हें सभी फूफो निक्की कहते थे, मेरी माँ की छोटी बहन और चौथी थीं मेरी नानी। नानी के लिए तो मैं उनके जीवन का सबसे बड़ी उपहार थी। वे मुझे इतना प्यार करती थीं कि अगर कभी मेरी माँ मुझे दण्ड देतीं तो वे अपना सिर दीवार में मारने लगती थीं। इसी तरह फूफो निक्की भी मुझे अपनी जान समझती थीं। वे मेरी हर इच्छा पूरी करती थीं।

मेरे नाना एक गरीब किसान थे। वे मेहनती थे। दिन भर खेत में काम करते

और रात में औरों के लिए कुर्ता सिलते। इससे उनकी आमदनी ठीक-ठाक हो जाती थी। मेरी नानी दिन भर घर के काम करती थीं। मिट्टी से बने घर की देखभाल भी उन्हीं के ज़िम्मे थी। कभी वर्षा होने पर मिट्टी की छत चूने लगती तो नानी ही उसे ठीक करती थीं। गर्मियों में खाने के बाद वे फूफो निक्की के साथ बैठकर चावल साफ करतीं, रुई बीनतीं या सूत काततीं। घर के लिए चादर बुनतीं।

पूरे घर के लिए मैं एक खिलौने जैसी थी। सभी मुझे हमेशा अपने पास रखना चाहते थे। छोटी मौसी तो मुझे कभी अपने से अलग नहीं करना चाहती थीं। मुझे अपने पास रखने के लिए सभी एक-दूसरे से लड़ते थे: 'तुम उसे एक घण्टे से रखे हुए हो। दिन भर तुम्हीं उसे रखोगे?'

सभी मेरा बहुत ध्यान रखते थे। अपनी नज़रों से दूर नहीं जाने देते थे। मुझे कभी खेलने भी बाहर नहीं भेजते थे। इतने लाड़-प्यार के बाद भी मैं बिगड़ी हुई बच्ची नहीं थी। मैं किसी से बुरा व्यवहार नहीं करती थी। कभी कोई खटकने वाली बात बोलती तो मेरी माँ तुरन्त मुझे डाँटती थीं। एक बार उन्होंने मुझे खूब पीटा भी। असल में मैं उनकी देखा-देखी हुक्का पीने लगी थी। फूफो निक्की के प्यार से समझाने पर भी मैं नहीं मानी। मुझे हुक्का पीते माँ ने देख लिया और मुझे पीटा। फूफो निक्की को भी उन्होंने बहुत उलटा-सीधा कहा।

जब मैं तीन साल की हुई, माँ मेरी शिक्षा के लिए चिन्तित होने लगीं। वो तभी से चाहने लगीं कि मैं दुनिया के सभी इल्म सीखूँ और बड़ी होकर नाम कमाऊँ। लेकिन एक छोटे-से गाँव में रहकर इतना बड़ा सपना देखना बेकार था। इसलिए माँ ने पिता से सुलह कर ली और हम लोग जम्मू रहने आ गए।

मेरे पिता एक पठान थे। वे मेरी माँ से उतने ही अलग थे जितना ज़मीन से आसमान अलग होता है। मेरी माँ पाँचों वक्त की नमाज़ी थीं और पिता शराबी थे। रमजान और मुहर्रम के दिनों को छोड़कर कोई ऐसा दिन नहीं होता जिस दिन वे पीते नहीं थे। वे जुए के शहंशाह के रूप में भी मशहूर

थे। दूर-दूर से लोग उनसे गुर सीखने आते थे। जम्मू से बम्बई तक के जुआरी उन्हें 'उस्ताद' के नाम से जानते थे। उनका असली नाम अब्दुल्ला खान कोई नहीं लेता था। सभी उन्हें 'उस्ताद' ही कहते थे। जुआ ही उनका पेशा था। उर्दू बाज़ार में उन्होंने एक बरसाती किराए पर ले रखी थी जो उनके अड्डे के रूप में जानी जाती थी। जम्मू में उनके और भी कई अड्डे थे।

पिताजी जब जुए में जीतकर शराब पीकर घर आते थे तो उनके पीछे बच्चों की टोली लग जाती थी। बच्चे उनसे पैसे माँगने लगते थे, 'बाबा! हमें एक पैसा दो!'

बाबा अपनी तहमद की जेब से सिक्के निकालते जाते और बच्चों को देते जाते। वे यह भी नहीं देखते कि उनके हाथ में कौन सा सिक्का आया है — आना या रुपया! बच्चों के अलावा वे भिखारियों को भी हमेशा पैसे देते थे। बस वे अगले दिन के नाश्ते और लस्सी के लिए चार आना बचाकर रख लेते थे। सोते हुए वे इस चार आने को अपनी मुट्ठी में कसकर दबाए रखते। उनके सोने पर मैं उनकी मुट्ठी खोलकर चार आने निकालने की कोशिश करती लेकिन उनकी मुट्ठी खुलती ही नहीं थी। एक बार तो मुट्ठी खोलने में मुझसे उनकी हथेली कट गई और उससे खून भी बहने लगा। लेकिन मुट्ठी फिर भी नहीं खुली!

पिता से मेरे सम्बन्ध अजीब थे। न तो मैं उनसे लगाव महसूस करती थी, न ही नफरत। लेकिन वे मुझे प्यार करते थे। मेरी हर माँग पूरी करते थे। मैं उनसे कर्कश होकर बात करती फिर भी वे मेरी हर माँग पूरी करते थे। एक बार तो ऐसी घटना घटी जिसने मुझे यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि वे कितने महान व्यक्ति थे। वो जाड़े की एक रात थी। पिताजी अपने अड्डे पर सोने जा रहे थे। रास्ते में एक दुकान के तन्दूर के पास उन्हें किसी की आवाज़ सुनाई दी। दुकान बन्द हो चुकी थी, लेकिन तन्दूर के पास कोई बैठा था। उसके शरीर पर नाम मात्र के कपड़े थे। वह ठण्ड से कराह रहा था और तन्दूर की गर्मी से खुद को गर्म रखने की कोशिश कर रहा था। उसे इस हालत में देखकर मेरे पिता सीधे अपने अड्डे पर गए,

अपना पूरा बिस्तर उठाया और लाकर उस आदमी को दे दिया। अपने लिए उन्होंने एक तकिया तक नहीं रखा। जब यह घटना घटी मैं सिर्फ चार साल की थी, लेकिन इस घटना को मैं कभी भूल नहीं सकी।

उन दिनों जम्मू-कश्मीर में छोटे बच्चों के लिए कोई स्कूल नहीं था। बच्चे आठ-नौ साल के बाद ही टाट-पट्टी के स्कूल में भेजे जाते थे, जहाँ एक शिक्षक हाथ में छड़ी लिए रहते थे और अक्सर बच्चों की पिटाई किया करते थे। मेरी माँ ने चूँकि तीन साल की उम्र से ही मेरी पढ़ाई के बारे में सोचना शुरू कर दिया था, उन्हें ध्यान आया सैय्यद गुलज़ार हुसैन शाह नाम के शख्स का जो उनकी दूर की किसी बहन के पति थे। वे उर्दू और फारसी जानते थे और पान की दुकान चलाते थे। उनकी दुकान पर दवा की कुछ शीशियाँ भी रहा करती थीं जिन्हें वे बीमार लोगों को बेचा करते थे।

गुलज़ार हुसैन को बी.ए. या एम.ए. की डिग्री नहीं थी, लेकिन वे उर्दू और फारसी अच्छी जानते थे। कुछ और भी बच्चे उनसे पढ़ते थे। माँ ने मुझे उनके पास तालीम के लिए भेज दिया। मैं सुबह से शाम उनकी दुकान पर टँगी रहती थी। बीच में थोड़ी देर के लिए घर जाती। उस्ताद की तालीम का यह असर हुआ कि साल-दो साल में ही मैं उर्दू की कठिन किताबें पढ़ने लगी। उस्ताद चूँकि मेरे सम्बन्धी भी थे, मुझ पर ज़्यादा विश्वास करते थे। वे कई बार दुकान मुझ पर छोड़कर चले जाते थे। मैं ही दुकान सम्हालती थी। मैं अच्छी तरह पान लगाना सीख गई थी। यही नहीं, कभी कोई बीमार उस्ताद की अनुपस्थिति में दवा लेने आता तो मैं उसका इलाज भी कर देती। अगर कोई कहता कि उसके पेट में दर्द है तो मैं उसे 'पंज अर्क' की एक खुराक दे देती और कोई कब्ज़ की शिकायत करता तो उसे 'नील पुष्प का अर्क' पिला देती। हाँ, रोगियों से मैं उस्ताद की तुलना में दुगने पैसे वसूलती। कभी-कभी उस्ताद के गल्ले से पैसे निकालकर बरफी और पकौड़ी खरीद लाती। साथ पढ़ने वाले लड़कों को भी खिलाती। दवा की शीशियों से कभी-कभी उन्हें दवा भी पिलाती। उन शीशियों की दवा मुझे इतनी अच्छी लगती कि मैं पानी के बदले दवा ही पी लेती। खाना खाने घर

जाती तब भी पानी नहीं पीती। इतनी अच्छी दवाओं के रहते मुझे बेस्वाद पानी से अपने मुँह का स्वाद बिगाड़ने की क्या ज़रूरत थी?

मेरे उस्ताद सेवा-समिति नाम की एक सरकारी संस्था से जुड़े थे। इस संस्था का काम था शवगृह में पड़ी लावारिस लाशों को जलाना या दफनाना। किसी हिन्दू की लाश लावारिस पड़ी होती तो संस्था के हिन्दू सदस्य जाते, और मुस्लिम की लाश पड़ी होती तो मुस्लिम सदस्य। मेरे उस्ताद को जब कभी खबर लगती कि किसी मुस्लिम की लाश लावारिस पड़ी है तो वे शवगृह पहुँच जाते। लाश लेकर उसे दफनाने को चल पड़ते। इस काम के लिए उन्हें अस्पताल से चार रुपए मिलते थे। वे एक-डेढ़ रुपए में लाश का काम तमाम कर बाकी रुपए बचा लेते और अपने साथियों के साथ तवी नदी के किनारे झाड़ी में छुपकर शराब-कबाब का लुत्फ उठाते!

उस्ताद जब भी अस्पताल के बुलावे पर जाते, हम आज़ाद हो जाते। उस दिन मैं दुकान बन्द कर घर भी चली जाती। उस्ताद के सभी शागिर्द प्रार्थना करते कि इसी तरह रोज़ अस्पताल का बुलावा आता रहे और उस्ताद रोज़ लाश दफनाने में व्यस्त बने रहें!

मेरे उस्ताद शतरंज और सितार के भी शौकीन थे। सितार पर वे हमेशा एक ही धुन बजाया करते थे। अक्सर वे अपने दोस्तों के साथ दुकान के पिछले कमरे में शतरंज भी खेलते थे। कभी-कभी यह खेल शाम तक चलता रहता। उस्ताद खाना-पीना भूलकर खेलते रहते। बीच-बीच में पान की तलब होने पर मैं उन्हें पान दे आती।

मेरे पिताजी का मुख्य अड्डा उस्ताद की दुकान से कुछ ही दूरी पर था। मैं बीच-बीच में उनके पास चली जाती और उनसे पाँच-छह आना माँग लाती। उन पैसों से बरफी, पकौड़े और आइसक्रीम खरीदती। जो पैसे बच जाते, उन्हें मैं एक डिब्बे में जमा करती जाती। उस डिब्बे को अलमारी में रखकर ही दुकान पर जाती और दोपहर में घर आने पर पहले उन्हें गिनती, फिर खाना खाती। एक दिन मैंने पाया कि मेरे सिक्के गायब हैं। उस दिन सुबह ही मेरे पिता ने मुझसे पैसे उधार माँगे थे। मैंने मना कर दिया था।

अब मैं समझ गई कि पैसे पिता ने ही लिए हैं। मैं दौड़ती-दौड़ती उनके अड्डे पर चली गई। पिता ने मुझे मनाया और कहा, "मैं तुम्हें चौगुने पैसे लौटा दूँगा।" उस दिन से मैं उनसे पैसे वसूलने लगी। एक दिन पिता ने कहा, "तुमने मुझसे हज़ार गुना पैसे ले लिए हैं, अब तो मुझे माफ कर दो?" लेकिन मैंने उनसे पैसे वसूलना नहीं छोड़ा। वे भी मुझे खुशी-खुशी पैसे देते रहे!

मैं जब पाँच साल की हुई, मेरी माँ ने मुझे संगीत सिखाने का निर्णय लिया। वे मुझे उस्ताद अली बख्श खाँ के पास ले गईं। अली बख्श खाँ बड़े गुलाम खाँ के पिता थे। उन दिनों वे जम्मू में ही रहा करते थे। उनकी आवाज़ बहुत अच्छी थी। वे मुझे सिखाने लगे। दो साल तक तो उन्होंने मुझे 'सा' के आगे-पीछे जाने का अभ्यास ही कराया। तब जाकर उन्होंने अपनी पसन्दीदा तोड़ी "सैंया अल्ला जाने, मौला जाने" सिखाई। उस्ताद अली बख्श खाँ मुझसे बहुत खुश रहा करते थे। मैं उनकी सिखाई चीज़ जल्दी ही सीख जाती थी। वे हमेशा मेरी तारीफ किया करते थे। कहते थे, "यह सुर में गाएगी।" वे मुझसे कहते, "देखो बच्ची, तुम जो भी गाओ, सुर में गाओ। तभी वह सुनने वालों के दिल को छू पाएगा।"

जम्मू में ही एक और उस्ताद रहते थे, अल्लाह बख्श। वे उस्ताद अली बख्श के चचेरे भाई थे। उनकी गायकी मेरे उस्ताद से ज़्यादा अच्छी थी। लेकिन वे विक्षिप्त हो गए थे। उनके गुरु ने एक बार भरी महफिल में उन्हें डाँट दिया था। तभी से वे चुप हो गए थे। दो महीने बाद वे पागल हो गए। वे चुपचाप बैठे रहते। उनके नाखून बड़े होते। कपड़े मैले होते। वे कभी नहाते-धोते नहीं थे। उनकी गर्दन पर धूल की परत जमी होती। वे हमारे घर आते और बालकनी में बैठ जाते। अपनी पथराई आँखों से आसपास ताकते रहते। उन्होंने गाना बिलकुल बन्द कर दिया था। सभी उनसे आग्रह करते लेकिन वे नहीं गाते। कभी-कभी वे मुझे अपनी गोद में बैठा लेते। मुझे उनसे डर लगता था। इसलिए जब वे घर आते मैं घर से बाहर जाकर छुप जाती।

एक दिन अचानक बैठे-बैठे वे गाने लगे। क्या गाना था! क्या दर्द था उनके

गाने में! मुझे तो समझ में नहीं आ रहा था। लेकिन मेरी माँ, मौसी और मेरे उस्ताद उनके गाने को सुनकर बच्चों की तरह सिसक रहे थे। बिना कुछ जाने-बूझे मैं भी रोने लगी।

उस्ताद अल्लाह बख्श हमारे घर रोज़ आते थे। धीरे-धीरे मेरा डर भी खत्म हो गया था। वे मेरे साथ खेलते रहते। मैं संगीत सीखती तो चुपचाप सुनते रहते। कभी-कभी वे गाने भी लगते। एक दिन वे 'भैरवी' में खयाल गाने लगे। उनके गायन में ऐसी ताकत थी कि सुनने वाले दुनिया-जहान को भूल जाते थे। उन्होंने मुझे कभी सिखाया नहीं, लेकिन उनको सुन-सुनकर मैंने बहुत कुछ सीखा।

मैं संगीत सीखती तो थी लेकिन शुरू-शुरू में उसमें मेरी कोई रुचि नहीं थी। माँ सिखाना चाहती थीं इसलिए मैं सीखती थी। लेकिन धीरे-धीरे मेरी रुचि जग गई। इसमें मुहर्रम के समय गाने वाले नोहों और मर्सिया का बहुत बड़ा हाथ था। आवाज़ अच्छी होने की वजह से मुहर्रम के समय मुझे मर्सिया पढ़ने को बुलाया जाता। लोगों को मेरा मर्सिया पढ़ना अच्छा लगता। वे मुझे आशीर्वाद के साथ उपहार भी देते। मैं सबकी बेटी बन गई।

उधर मेरी उर्दू-फारसी की तालीम पूरी हो गई थी। गुलज़ार हुसैन ने मुझे फारसी की दो-तीन और उर्दू की छह-सात किताबें पढ़ा दी थीं। एक दिन वे मेरी माँ के पास आए और बोले, "मुझे जितनी उर्दू-फारसी आती थी मैंने उसे पढ़ा दिया है। अगर आप उसे आगे पढ़ाना चाहती हैं तो आपको दूसरा उस्ताद रख लेना चाहिए!"

उस्ताद की दुकान पर मेरा जाना बन्द हो गया। अब उस्ताद अली बख्श दिन में दो बार आकर मुझे संगीत सिखाने लगे। उर्दू-फारसी की तालीम मैं भूल नहीं जाऊँ, इसलिए रोज़ मुझे लिखना-पढ़ना भी पड़ता था।

इस बीच मेरी छोटी मौसी की शादी हो गई और वे दिल्ली चली गईं। मेरे नाना और माँ ने मशविरा कर यह तय किया कि उन्हें भी दिल्ली चले जाना चाहिए। 'वहाँ वह शास्त्रीय संगीत और नृत्य सीख सकती है,' यह उन लोगों का मानना था। माँ हमेशा चाहती थीं कि मैं दुनिया की सभी कलाएँ

सीख जाऊँ। दरअसल माँ जो चीज़ हासिल नहीं कर पाई थीं उसे मेरे माध्यम से हासिल करना चाहती थीं। माँ कभी हँसी-मज़ाक भी नहीं करती थीं, न ही कभी मेरे प्रति प्यार प्रदर्शित करती थीं। वे हमेशा गम्भीर बनी रहती थीं। वो यह देखतीं कि मेरा एक-एक मिनट किसी काम में लग रहा है या नहीं। मैं अपनी पढ़ाई या गाने में लापरवाही तो नहीं बरत रही हूँ। यही वजह थी कि जब वे कुछ दिनों के लिए कहीं चली जातीं तो मैं बहुत खुश होती। मैं प्रार्थना करती कि वे देर से लौटें।

आखिरकार हम दिल्ली के लिए रवाना हुए। नाना पहले ही जाकर मौसा जी की मदद से चितली कबर इलाके में एक सस्ता मकान ढूँढ चुके थे। नानी, माँ, मामा और तबला-सारंगी वालों के साथ मैं दिल्ली आ गई। फूफो निक्की और नाना की भतीजी जम्मू में ही रह गईं। दोनों बहुत रोईं। मैं उनसे पहली बार अलग हो रही थी।

दिल्ली पहुँचने के अगले दिन सुबह मैं छोटी मौसी के यहाँ गई। हम चार महीने बाद मिल रहे थे। मौसी ने मुझे खूब दुलार किया। मेरे मौसा किताबें, पत्रिकाएँ और धार्मिक साहित्य पढ़ने के शौकीन थे। उनके घर में दर्जनों किताबें थीं। वहाँ रत्तन नाथ सरशार की लिखी *फसाना-ए-आज़ाद* के चारों खण्ड भी थे। मैंने मौसा से वह किताब पढ़ने को माँगी। मौसा ने कहा, "तुम्हें जो किताब चाहिए ले जाओ, मगर उन्हें सम्हालकर रखना!" मैं *फसाना-ए-आज़ाद* के चारों खण्ड ले आई। इससे पहले मैंने कहानियों की कोई किताब नहीं पढ़ी थी। मैं इस किताब में डूब गई। कभी-कभी मैं खाने के समय भी किताब खोले रहती। इस किताब ने तो मेरी दुनिया ही बदल दी। लेकिन मेरी माँ को मेरा किताब पढ़ना अच्छा नहीं लगता था। वो समझती थीं कि मैं समय बरबाद कर रही हूँ। वे मुझे किताब पढ़ने से मना करतीं। इसलिए दोपहर को जब वे सो जातीं तो मैं किताब निकालकर पढ़ने लगती।

जम्मू में अपने बहुत से लोग थे, पड़ोसी थे। दिल्ली में सब कुछ अलग था – वेश-भूषा, भाषा, सब कुछ। हम आसपास में भी किसी को नहीं जानते

थे। बस थोड़ी देर के लिए मौसी के यहाँ जाना और आकर संगीत का पाठ पढ़ना। मनोरंजन का और कोई साधन नहीं था। एकमात्र *फसाना-ए-आज़ाद* का साथ था और उस पर भी माँ का पहरा था!

दिल्ली आकर उस्ताद मम्मन खाँ को मेरा उस्ताद बनाया गया। वे शास्त्रीय नृत्य में भावों की अभिव्यक्ति के लिए जाने जाते थे। उन्होंने अपना पूरा जीवन रजवाड़ों की नौकरी करते बिताया था। मेरे घर आने को वे बड़ी मुश्किल से राज़ी हुए थे। लेकिन जब उन्होंने मेरा गाना सुना तब वे बहुत खुश हुए और मुझे सिखाने को राज़ी हो गए। वे रोज़ सुबह दस बजे आते थे और एक बजे तक मुझे सिखाते थे। खाना खाने के बाद वे चले जाते। शाम को मैं गाने का रियाज़ करती थी।

उस्ताद मम्मन खाँ सत्तर-पचहत्तर साल के थे – काले, बड़ी-बड़ी आँखों और मूँछों वाले, मोटे, बड़े पेट वाले, चश्माधारी...! लेकिन सिखाने के क्रम में तबले के बोल पर जब वे नाचने लगते तो लगता था जन्नत से कोई फरिश्ता उतर आया है। नाचते हुए पैर चाहे जितना भी चलें, धड़ को स्थिर रखना; चाहे तबले वाला थक जाए, खुद न थकना; मुस्कुराता हुआ चेहरा; आँखों और हाथों से भावों को दिखलाना; शरीर को इतना हल्का रखना कि वह पानी में बहता हुआ नज़र आए – आदि ऐसी बातें थीं जो मम्मन खाँ मुझे सिखाते थे। नृत्य के बाद वे मुझे ठुमरी में अभिव्यक्त होने वाले भावों का भी अभ्यास करवाते थे। उस्ताद की विशेषता थी कि वे महीनों का काम कुछ ही दिनों में करवा लेना चाहते थे। शुरू-शुरू में इतना रियाज़ करना मेरे लिए बहुत कठिन था। मेरे पैरों और शरीर में दर्द होने लगता था, लेकिन कुछ दिनों में सब ठीक हो गया।

मेरे उस्ताद बहुत बातूनी थे। वे तरह-तरह के किस्से सुनाया करते थे, राजा-महाराजा के तो किसी और के। उनके कुछ किस्से सुनकर तो कोई भी समझ सकता था कि ये मनगढ़ंत हैं, जैसे कि यह किस्सा – एक बार उस्ताद कहीं जा रहे थे। गर्मियों के दिन थे। सुस्ताने के लिए वे पेड़ के नीचे रुके। उन्होंने देखा कि पेड़ की डालियाँ चारों दिशाओं में दूर-दूर तक

फैली हैं। वे अपनी गर्मी भूलकर यह देखने को चल पड़े कि डालियाँ कहाँ तक फैली हैं? और कोई चार मील चलने पर भी वे उन डालियों का छोर नहीं पा सके!

दिल्ली में ही मुझे एक और उस्ताद मिले, जिन्हें मैं सख्त नापसन्द करती थी। वे एक कॉलेज के प्रोफेसर थे। रोज़ हमारे घर आ जाते और मेरे गाने में नुक्स निकाला करते। मेरी माँ ने मुझे उनसे उर्दू और अरबी सीखने को कहा। अरबी तो नहीं, हाँ उर्दू सीखने को मैं तैयार हुई। प्रोफेसर मुझे सिखाते तो थे मगर नुक्स ज़्यादा निकालते थेः 'इसे इस तरह मत पढ़ो!' 'इसका उच्चारण इस तरह मत करो!' उनकी नुक्स निकालने की आदत की वजह से मैं उनसे नफरत करने लगी। मैं सोचती, "यह क्यों मेरे गले मढ़ दिया गया है?" मैं अल्लाह से प्रार्थना करती कि वे मुझे इनसे छुटकारा दिलवाएँ!

मेरे गलती करने पर जब वे कहते, "ओह! तुमने मेरा दिल तोड़ दिया," तो मैं मन ही मन कहती, "तुम्हारा दिल सचमुच टूट जाए तो अच्छा!" मैं रोज़ चाहती कि वे बीमार पड़ जाएँ, उनकी टाँग टूट जाए, उनको पागल कुत्ता काट खाए और वे मेरे घर न आएँ! मैं अक्सर हज़रत निज़ामुद्दीन की दरगाह पर प्रार्थना करती कि उनसे छुटकारा मिल जाए, लेकिन मेरे उस्ताद बिना नागा ठीक समय पर रोज़ मेरे घर पहुँच ही जाते थे!

उस्ताद मम्मन खाँ की तालीम से मैं नाच और गाने में काफी निपुण हो गई थी। मैंने नृत्य का इतना अभ्यास कर लिया था कि द्रुत ताल पर तबला वादक मेरी संगत करने में कठिनाई महसूस करने लगते थे। मैं दो घण्टे तक लगातार नाच सकती थी और इसमें मुझे थकान भी नहीं होती थी। मैंने ठुमरी का भी अच्छा अभ्यास कर लिया था। मैं तब केवल नौ साल की थी लेकिन उस समय के प्रसिद्ध गायक-गायिकाएँ मेरे कारण घबराने लगे थे। जब वे मेरे बाद महफिल में नाचते-गाते तो दर्शक खुश नहीं होते थे। इसलिए जब उन्हें पता चलता कि किसी कार्यक्रम में मुझे बुलाया गया है तो वे किसी न किसी बहाने उस कार्यक्रम में आना टाल देते थे!

हमें दिल्ली आए दो साल हो गए थे। मुझे जम्मू में रह रही फूफो निक्की की, मौसी की, पिता की याद आती। माँ को भी जम्मू की याद सताती। उधर फूफो निक्की का खत आया कि कश्मीर के महाराज का राज्याभिषेक होने वाला है। जम्मू को खूब सजाया जा रहा है। जगह-जगह से लोग उसे देखने आ रहे हैं। तुम लोग भी दो-तीन महीने के लिए आ जाओ! हम सब इस बात से सहमत हुए। जम्मू जाने की खुशी से तो मैं पागल होने लगी। मैं चाहती थी कि उड़कर वहाँ पहुँच जाऊँ!

जम्मू पहुँचकर मुझे लगा कि मैं दोज़ख से जन्नत में आ गई हूँ। कुछ इसी तरह का अनुभव कैदियों को आज़ाद होने के बाद होता होगा। दिल्ली में दिन भर की कड़ी मेहनत! यहाँ सब कुछ सामान्य लग रहा था। यहाँ परिवार के लोग थे, हँसी-खुशी थी। पिता भी मुझसे मिलने आए। उन्होंने पूछा, "अब मेरे ऊपर तुम्हारा कितना कर्ज़ है?" मैंने कहा, "कुछ भी नहीं!" वे बोले, "नहीं, तुम रोज़ आकर अपना कर्ज़ वसूलते रहना!"

हमें जम्मू आए कोई बारह दिन हुए होंगे कि एक दिन रात के दस बजे एक शाही अर्दली हमारे घर आया और बिना किसी की ओर इशारा किए बोला, "महाराज के सचिव अब्दुल कय्याम खाँ ने आपको बुलाया है।"

मेरी माँ ने उससे कहा, "लगता है, आप गलती से हमारे घर आ गए हैं। हमारे यहाँ तो ऐसा कोई मशहूर शख्स नहीं है जिसे वे बुलाएँ?"

अर्दली चला गया और थोड़ी देर में फिर वापस आकर बोला, "वे आपको बुला रहे हैं!"

"किसे?" मेरी माँ ने पूछा।

"उस लड़की को जो दिल्ली से आई है!" अर्दली ने कहा।

"वह तो छोटी बच्ची है – आठ-नौ साल की!" माँ ने कहा।

"मुझे नहीं पता। वह पाँच साल की हो तो भी उसे बुलाया गया है," अर्दली बोला।

फिर माँ बोली, "वह अभी सो रही है। अगर वे लोग इसका गाना सुनना

चाहते हैं तो कल इसे ले जाना ठीक होगा। अभी उसे जगा भी दें तो वह गा नहीं पाएगी। आप हमारी तरफ से उनसे माफी माँग लीजिएगा!"

अर्दली चला गया। अगले दिन सुबह ठीक आठ बजे कार आ गई। हम लोग कय्याम साहब के घर पहुँचे। वहाँ कुछ मंत्री और अधिकारी बैठे थे। दूसरे कमरे में उनकी औरतें बैठी थीं। उन्होंने जब मेरा नृत्य देखा और गाना सुना तो "अश, अश" करके मेरी तारीफ की। बाद में अन्दर बुलाकर उन्होंने मुझसे कहा, "तुमने इतनी छोटी उम्र में इतना कुछ कैसे सीख लिया?"

मंत्री और अधिकारी भी मेरे नाच-गाने से खुश हुए। एक मंत्री ठाकुर करतार सिंह बोले, "जम्मू की जीत होगी। कोई इसे हरा नहीं पाएगा!" हम लोग शाम को घर वापस आए।

दो दिन बाद महाराज का खास अर्दली हमारे घर आया और बोला, "महाराज ने आपको याद किया है। आठ बजे तैयार रहिएगा।"

मैं कुर्ता-पायजामा और दुपट्टा पहनकर तैयार हो गई। ठीक आठ बजे कार आ गई। मैं अपने साज़िन्दों के साथ उस पर महल पहुँची। करीब दस मिनट बाहर वाले हॉल में बैठने के बाद कोई अर्दली मुझे अन्दर ले गया। कई कमरों को पार कर वह कमरा आया जिसमें महाराज बैठे थे। मैं उस कमरे में चप्पल पहनकर ही घुसने लगी। अर्दली ने मुझे टोका। मैंने चप्पल बाहर खोली और तेज़ी से अन्दर चली गई। अर्दली ने मुझे फिर टोका, "दरबार में तेज़ी से नहीं चलते!" महाराज के सामने जाने पर उन्होंने मुझे बैठने का इशारा किया। मैं नीचे बिछे कालीन पर बैठ गई। थोड़ी ही देर में साजिन्दे भी वहाँ पहुँच गए। किसी ने मुझे घुँघरू बाँधने को दिए। मैं घुँघरू बाँधने लगी। तभी महाराज का एक अधिकारी आकर बोला, "महाराज की ओर पैर करके नहीं बैठना चाहिए।" मैं दूसरी ओर पैर करके घुँघरू बाँधने लगी। वही अधिकारी फिर से आया और बोला, "महाराज के सामने इस तरह बैठना ठीक नहीं।" अब मुझे गुस्सा आ गया। मैं ज़ोर से बोल पड़ी, "आखिर मैं घुँघरू कैसे बाँधूँ? पैर सिर पर रख लूँ?"

महाराज ने मेरी बात सुन ली। उन्होंने अपने अधिकारी को बुलाकर कहा, "वह जैसा चाहती है, उसे करने दो!"

घुँघरू पहनकर मैंने नाचना शुरू किया। मेरे नाच से लोग स्तम्भित रह गए। उसके बाद मैंने एक भजन जैसी ठुमरी गाई, "अरे, राम कैसे पार उतरिए!" करीब आधे घण्टे तक इसे गाने के बाद मैंने एक गज़ल गाई। पंजाब में उन दिनों अच्छी धुनों वाली गज़लें गाने वाले लोग नहीं थे। मैं दिल्ली से अच्छी गज़लें सीखकर आई थी, लोगों ने बहुत पसन्द किया। सभी मेरी तारीफ करने लगे। कोई कह रहा था, "क्या बच्ची है! इतनी छोटी उम्र में हर तरह की चीज़ गा लेती है!" कोई कह रहा था, "अल्लाह ने इसे लाजवाब आवाज़ दी है!" कोई कह रहा था – "यह तो सभी मशहूर गायकों से बेहतर गाती है!" तारीफ करने में कोई पीछे नहीं रहना चाहता था।

मेरे गाने के बाद महाराज ने मुझे बुलाया। उन्होंने मुझसे डोगरी में कहा, "तुमने इतनी छोटी उम्र में सब कुछ सीख लिया है। तुम बहुत अच्छा गाती हो। आश्चर्य होता है कि तुम इतना अच्छा नाच-गा लेती हो! तुमने यह सब कहाँ से सीखा?"

"दिल्ली में!" मैंने जवाब दिया और चुपचाप महाराज की बात सुनती रही। मैंने उन्हें 'शुक्रिया' तक नहीं कहा!

महाराज ने मुझे अगले दिन सात बजे आने को कहा। मैं बहुत खुश हुई, दौड़कर अपने साज़िन्दों के पास पहुँची। जब मैं उस कमरे से बाहर आई, एक अर्दली बोल पड़ा, "दरबार में दौड़कर नहीं चला जाता, न ही महाराज के सामने पीठ की जाती है।"

महाराज ने उस दिन मुझे एक हज़ार रुपए पुरस्कार के रूप में दिए। उन दिनों हज़ार रुपयों की कीमत यह थी कि उनसे एक मकान खरीदा जा सकता था। महाराज ने मेरे कपड़ों के लिए हज़ार रुपए अलग से मंजूर किए थे। बाहर दर्ज़ी मेरा नाप लेने को खड़ा था। महाराज द्वारा मुझे पुरस्कृत करने की बात पूरे जम्मू में फैल गई।

अगले दिन फिर शाम सात बजे कार हमारे दरवाज़े पर खड़ी थी। उस दिन महल में जाने पर हमें सबसे पहले खाना खिलाया गया। चाँदी की थाली में, ढेर सारी कटोरियों के साथ एक से एक लज़ीज़ व्यंजन! मैं उस दिन कुछ ज़्यादा ही खा गई। खाने के बाद मुझे नाचने-गाने को कहा गया। इतना अधिक खाने के बाद मुझे तो नींद आ रही थी। लेकिन मैं यह बात कह नहीं सकती थी। किसी तरह नाची-गाई, घर वापस आई।

अब यह रोज़ की बात हो गई। शाम सात बजे कार घर पर आ जाती। हम महल में जाते। खाना खाते, नाचते-गाते, महाराज पुरस्कार देते और हम ग्यारह बजे रात को घर वापस आते।

महाराज के राज्याभिषेक का दिन नज़दीक आ रहा था। देश के कोने-कोने से गायक-गायिकाएँ आ रहे थे। कई राजा-महाराजा भी आने लगे थे, अपने लाव-लश्कर के साथ हाथी-घोड़े पर सवार होकर! उनको देखने के लिए जम्मू की जनता उमड़ पड़ी। मैं भी अपने घर से उनकी सवारी देखती। शाम को रोज़ संगीत-नृत्य के कार्यक्रम होते। बाहर से आए हुए कलाकार अपनी कला का प्रदर्शन करते। महफिल रात के तीन बजे तक चलती। लेकिन महाराज ग्यारह बजे के बाद नहीं रुकते थे। उन्होंने मुझे भी ग्यारह बजे घर चले जाने का आदेश दे रखा था।

राज्याभिषेक के दिन महाराज हरि सिंह सोने के सिंहासन पर बैठे थे। सभी आगन्तुक, राजा-महाराजा, सरकारी अधिकारी अपने-अपने स्थान पर बैठे। हीरे-मोतियों से जड़ा सोने का ताज महाराज के सिर पर रखा गया। इसके बाद सभी आगन्तुक, राजा-महाराजा, सरकारी अधिकारी, सेना के कर्नल महाराज को 'नज़र' भेंट करने लगे। 'नज़र' भेंट करने के कार्यक्रम के साथ ही मेरा गाना शुरू हुआ। उस विशेष अवसर के लिए महाराज के एक मंत्री ने, जो कवि भी थे, एक विशेष गीत लिखा था। उस गीत में सूर्यवंशी महाराज का गुणगान किया गया था। मैं वही गीत गा रही थी!

राज्याभिषेक का कार्यक्रम देखने जम्मू के आसपास के गाँवों के ढेर सारे लोग भी आए हुए थे। उन्होंने मुझ नौ साल की छोटी बच्ची को सोने से

मढ़े कपड़े और तरह-तरह के ज़ेवरात पहने देखा तो समझा कि कोई देवी है! जब मैं अपना गाना खत्म कर चबूतरे से नीचे उतरी तो गाँव की औरतों ने मेरे पैर छूने शुरू कर दिए। वे मेरे पैरों की धूल लेकर अपने बच्चों के चेहरे पर लगा रही थीं। मैं वहाँ से निकलना चाह रही थी लेकिन निकल नहीं पा रही थी। बड़ी मुश्किल से ड्राइवर ने मुझे बाहर निकाला और कार में बिठाया। जो औरतें मेरे पैर नहीं छू सकी थीं वे अपने बच्चे को उठाए कार के पीछे दौड़ रही थीं!

थोड़े दिनों बाद बैसाखी का उत्सव आया। इसकी तैयारी के लिए महाराज की ओर से मुझे हज़ार रुपए तो मिले ही, ढेर सारे गहने भी मिले। उत्सव के बाद महाराज के सचिव अब्दुल कय्याम ने मुझे अपने दफ्तर में बुलाया और कहा, "महाराज ने उस दिन से तुम्हें नौकरी पर रखने का फैसला किया है जिस दिन तुम पहली बार दरबार में आई थीं। तुम्हारी तनख्वाह होगी छह सौ रुपए महीना। उसमें सालाना सौ रुपए का इज़ाफा किया जाएगा। और इसके बावजूद कि तुम अभी छोटी हो, तुम्हें राजपत्रित कर्मचारी का दर्ज़ा दिया जा रहा है!"

मेरे तीन साज़िन्दों को भी दो सौ रुपए महीने की नौकरी पर रख लिया गया।

❖

विष्णु प्रभाकर

मुझे विश्वास ही नहीं हो रहा था

पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मेरठ के पास मुज़फ्फर नगर नाम का एक ज़िला है। इसकी पश्चिमी सीमा यमुना से मिलती है तो पूर्वी सीमा गंगा से। यहाँ गंगा किनारे हस्तिनापुर से दूर मीरापुर नाम का एक छोटा-सा कस्बा है। इस कस्बे में मेरे पुरखे रोज़ी-रोटी के लिए आकर बसे थे। वे लोग व्यापार करते थे। सुना है कि उनमें से किन्हीं ने बहुत धन कमाया और उससे वह विशाल भवन बनवाया जिसमें 20 जुलाई 1912 को मैंने पहली बार आँखें खोलीं।

मेरे दादा चिरंजीलालजी कस्बे के सम्मानित व्यक्ति थे। हर काम में उनकी सलाह ली जाती थी। धन्धे के रूप में वे टट्टू पर सामान लादकर गाँव-गाँव बेचा करते थे। मेरे परदादा भी बहुत अमीर नहीं थे। मैंने अपनी परदादी को भी देखा था। उनकी यादें अभी तक मेरे मन में बसी हुई हैं। मैं उन्हें 'बड़ी दादी' कहता था। बड़ी दादी अन्धी थीं। हमें खाना खिलाती थीं। अन्धी होने के बावजूद हमारे मुँह तक खाना बड़ी आसानी से पहुँचा देती थीं। खाना खिलाते-खिलाते वे हमें कहानियाँ भी सुनाया करती थीं। गाय के गोबर के नीचे दब जाने वाली चिड़िया की कहानी सुनाते हुए वे हँसने लगती थीं। हम भी हँसने लगते थे।

हमारा मीरापुर दो बातों के लिए बहुत प्रसिद्ध रहा है। एक तो पेड़ों के लिए और दूसरे रामलीला के लिए। दशहरे के दिनों में दस दिन तक रामलीला होती रहती थी। मेरे एक चाचा उसमें ताड़का की भूमिका में रहते थे, दूसरे मेघनाद की पत्नी सुलोचना की भूमिका में। हम उन्हें पहचान नहीं पाते थे।

कभी-कभी हमें भी वानर या राक्षस का मुखौटा लगाकर उनके आगे-पीछे घूमना पड़ता था।

रामलीला में जनकपुरी का जो बाज़ार लगाया जाता था उसके दृश्य बड़े मनोरंजक होते थे। कोई मालिन गीत गाती थी, "गाजर ले लो, मूली ले लो और ले लो चौलाई, भरे बाज़ार में डण्डी मारूँ, मैं मालन की जाई!" यह गीत सुनकर हमें बहुत मज़ा आता। इसी तरह कोई मिठाई बेचने वाला थाली लेकर आता और पुकारने लगता, "बता-शाले!" हम लोग इस पर खूब हँसते थे।

हनुमान जी के समुद्र पार करने के दृश्य को सजीव बनाने के लिए सड़क के दोनों ओर के ऊँचे-ऊँचे मकानों पर रस्सा बाँधा जाता था। हनुमान बने व्यक्ति एक चकरी के सहारे उस रस्से पर पार होते थे। एक बार क्या हुआ कि चकरी खराब हो गई, आगे बढ़ती ही नहीं थी। बस, हनुमान बने व्यक्ति रस्सी से नीचे कूद गए और पैदल चलकर सड़क पार कर गए। उस व्यक्ति की बहादुरी देखकर हम लोग दंग रह गए।

बचपन में देखे एक कुत्ते की मुझे याद है। हमारी एक दादी थीं जिन्हें हम मेरठवाली दादी कहते थे। उन्होंने एक कुत्ता पाल रखा था, 'टॉमी!' एक बार हम लोग कार्तिक स्नान को गए। टॉमी अपना रास्ता भूल गया। दो सप्ताह तक जब वह घर नहीं लौटा तो हमने समझ लिया कि वह कहीं मर गया होगा। तीसरे सप्ताह एक रात हमारे मुख्य द्वार पर कोई दस्तक दे रहा था। उन दिनों डाके बहुत पड़ते थे। सबने सोचा, डाकू आ गए। लेकिन दस्तक बहुत धीमे हो रही थी। हम लोग डरते-डरते दरवाज़े पर पहुँचे। किवाड़ खोलने पर टॉमी अन्दर घुस आया। खुशी में वह दोनों पैर उठाकर भौंकने लगा। दादी के पास पहुँचकर तो वह उन्हें चूमने ही लगा। दादी भी उसे पाकर बहुत खुश थीं। खुशी में वे रो रही थीं।

मेरे पिता तम्बाकू बेचते थे। तम्बाकू की दुकान तो कम ही चलती थी, इसलिए उनकी आय कम ही थी। वैसे भी उनका पूजा-पाठ में ही अधिक मन लगता था। सुबह तीन बजे से दस बजे तक पूजा करते, फिर दुकान खोलते। शाम चार बजे दुकान बन्द कर फिर मन्दिर चले जाते और रात

के दस बजे तक पूजा करते। लोग उन्हें 'भगत जी' कहते। उनका मज़ाक भी उड़ातेः "पूजा-पाठ से फुर्सत मिले तब तो कोई कमाई की ओर ध्यान दे?"

पिताजी की दुकान में टोकरियों में अलग-अलग तरह के तम्बाकू रखे होते थे। एक टोकरी में ढेर सारी किताबें होती थीं। मेरा पहला पुस्तकालय वही था। वहीं मैंने *भागवत*, *किस्सा साढ़े तीन यार*, *चन्द्रकान्ता* और *हातिमताई* जैसे किस्से पढ़े थे। इन्हीं पुस्तकों ने मुझे कल्पना की उड़ान भरना सिखाया।

मेरे पिताजी हुक्का भी पीते थे। एक बार उनकी देखा-देखी चोरी से मैंने हुक्के का कश खींच लिया। ढेर सारा कड़वा पानी मेरे पेट के अन्दर चला गया। खाँसी होने लगी। यह देखकर माँ गुस्से से पागल हो गईं, फिर भी मुझे सम्हाला। उन्होंने पिताजी की ओर व्यंग्य से कहा, "जैसा माँ-बाप करेंगे, वैसा ही तो औलाद करेगी।"

माँ की बात सुनकर पिताजी चुपचाप उठे, हुक्का ज़मीन पर पटककर फोड़ दिया। आगे उन्होंने कभी भी हुक्का नहीं पिया।

उन दिनों चेचक को माँ जगदम्बा का प्रकोप माना जाता था, इसलिए चेचक के टीके का आविष्कार होने के बावजूद लोगों का उस पर विश्वास नहीं था। मेरे बड़े भाई को टीका लगाने वालों ने टीका लगा दिया तो दादाजी बहुत गुस्सा हुए। उन्होंने हुक्के के पानी से धोकर उसे पवित्र किया! मैं दो-ढाई साल का ही था कि मुझे चेचक निकल आई। चेचक से मेरी हालत खराब होती जा रही थी। बचने की भी उम्मीद नहीं लग रही थी। मेरे छोटे चाचा आधी रात को हकीम के यहाँ जाने लगे। रास्ते में बड़ के पेड़ के पास एक नंगी, पगली औरत बैठी थी। उसने चाचा को बुलाया। उसने पूछा, "कहाँ जा रहे हो?" चाचा ने बताया। पगली ने कहा, "मैं तुम्हें भभूत देती हूँ, वह ठीक हो जाएगा। दो मिनट बाद खाने को माँगेगा। उसे मुरमुरे के कुछ दाने दे देना।" पगली ने पेड़ की जड़ से मिट्टी निकालकर चाचा को दे दी। चाचा उस पर विश्वास कर लौट आए। माँ कहती थीं कि भभूत लगाने के दो मिनट बाद ही मैंने आँखें खोल दी थीं और खाना माँगा

था। आज के हिसाब से यह घटना अन्धविश्वास ही कही जाएगी, लेकिन कभी-कभी संयोग भी ऐसा घट जाता है कि उसके बारे में सच-झूठ का फैसला करना मुश्किल हो जाता है।

मेरी माँ पढ़ी-लिखी थीं। दहेज में अन्य चीज़ों के साथ-साथ वे किताबों से भरा बक्सा भी लेकर आई थीं। उनमें हिन्दी और उर्दू की किताबें थीं। माँ के बक्से से किताबें निकालकर मैं फाड़ा करता था। शायद यह किताबों को फाड़ने का ही प्रभाव था कि मेरा मन स्कूल जाने को करने लगा। मैं इस बात के लिए माँ को तंग करता। आखिर एक दिन विधि-विधान से मेरा 'पट्टी-पूजन' करवा दिया गया। मैं स्कूल जाने लगा। स्कूल जाते समय एक बात नहीं हुई जिसकी कल्पना मैं अक्सर किया करता था। बड़ी दादी ने अपनी कहानियों में सुनाया था कि राजकुमार सोने की पट्टी, चाँदी की कलम और हीरे की दवात लेकर स्कूल जाता था। मुझे तो काठ की तख्ती, सरकण्डे की कलम और मिट्टी की दवात लेकर स्कूल भेजा जा रहा था! मुझे बड़ी निराशा हुई।

उन दिनों स्कूल में पहाड़े के साथ-साथ पव्वा, अद्धा, पौना, सवैया, ड्योढ़ा आदि भी रटने होते थे। हमने याद करने के कुछ मौलिक तरीके ईजाद कर लिए, जैसे कि ढाऊँ का पहाड़ा याद करते हुए हम फुसफुसाते, "ढाऊँ-ढाऊँ, कूकड़ा बजाऊँ, कूकड़े में मारी लात, तीन ठाऊँ, साढ़े सात।"

गुरुजी के डण्डे से त्रस्त होकर भी हमारी कविताई फूटतीः

तख्ती पे तख्ती,
तख्ती पे रोड़ा,
पण्डितजी मर गए,
लकड़ियों का तोड़ा।

इस पण्डितजी से ऊबकर हमें मौलवी साहब के मदरसे में भेजा जाने लगा। एक बार मौलवी साहब हज करने चले गए। उनकी जगह उनके भाई हमें पढ़ाने लगे। वे तो पीटने में पण्डितजी के भी गुरु निकले। हमने उन पर भी कविता लिख डालीः

तख्ती पे तख्ती
तख्ती पे दाने,
मियाँजी अन्धे,
लौंडे काने।

हज से लौटने पर मौलवी साहब अपने भाई पर खूब गुस्साए।

पण्डितजी और मौलवीजी की शिक्षा से शायद हमारे अभिभावक सन्तुष्ट नहीं थे, इसलिए हमारा नाम सरकारी स्कूल में लिखवा दिया गया। मैं चार साल तक उस स्कूल में रहा। मैं पढ़ने में तेज़ था। तीन ही महीने में मैंने कक्षा 'अ' की सारी चीज़ें याद कर लीं। इंसपेक्टर जब स्कूल का निरीक्षण करने आए तो उन्होंने मुझे कक्षा 'ब' में भेज दिया। कक्षा 'ब' की चीज़ें भी मैं जल्दी ही सीख गया। अगली बार इंस्पेक्टर ने फिर मुझे तरक्की देकर पहली कक्षा में भेज दिया, लेकिन हेडमास्टर ने मुझे पहली कक्षा में जाने की अनुमति नहीं दी। मैं कक्षा 'ब' में ही रह गया।

तीसरी कक्षा की एक घटना मुझे याद है। मेरे एक दोस्त के पिताजी बड़े ज्योतिषी थे। उन्होंने मेरा हाथ देखकर कहा, "तुम इस साल परीक्षा पास नहीं कर पाओगे।" मेरी समझ में नहीं आया कि वे क्या कह रहे हैं, क्योंकि इस बार सबको उम्मीद थी कि मैं कक्षा में प्रथम आऊँगा। मैं डर गया, तो उन्होंने समझाया, "एक काम करो तो पास हो सकते हो। गाँव के बाहर जो देवीजी हैं, उन्हें एक पैसे की जलेबी रोज़ चढ़ाया करो।"

मैं वही करने लगा। लेकिन मैं देखता था कि मेरे जलेबी चढ़ाने के बाद पुजारीजी का लड़का उन जलेबियों को खा जाया करता था। एक दिन मेरे मन में आया कि मैं भी जलेबी खा लूँ तो क्या हर्ज़? बस, दो जलेबी उठाकर भाग पड़ा। भागते-भागते खेत पहुँच गया। भागते हुए मैं पीछे भी देख रहा था कि कहीं देवीजी या उनका शेर तो नहीं आ रहा है? लेकिन कोई नहीं आया। मैं एक पेड़ के नीचे बैठकर दोनों जलेबियाँ खा गया। खाने के बाद भी डर लगा रहा। क्या पता पेट में दर्द हो जाए, बुखार आ जाए? लेकिन मुझे कुछ नहीं हुआ।

इसी तरह एक बार चोरी करने की बात याद है। दादी की डिबिया से मैंने पाँच रुपए चुरा लिए। उनमें से दो रुपए एक गड्ढे में दबा दिए, एक कहीं और छुपा दिया। एक रुपए का ढेर सारा सामान खरीदा – पेंसिल, होल्डर, कलम, दवात, स्लेट, मिठाई वगैरह-वगैरह। आखिर मेरी चोरी पकड़ी गई और चारों ओर से डाँट-पिटाई होने लगी। माँ ने तो यहाँ तक कह दिया कि "नासपीटे ने मेरे दूध को लजा दिया।" बाद में दादी के समझाने पर ही माँ शान्त हुईं।

मैं बारह साल का था जब मीरापुर से हिसार चला आया। मामाजी के यहाँ रहकर ही पढ़ने लगा। मामाजी कभी-कभार हमें डाँटते थे, लेकिन कोई बड़ी सज़ा नहीं देते थे। वे कई बार हमें बाहर ढाबे पर खाना खिला आते थे। वे हमारी पढ़ाई और घूमने-फिरने का ध्यान रखते थे। कक्षा में हमें कभी कम अंक मिलते तो मामाजी की डाँट से बचने के लिए उनमें हेर-फेर भी कर देते थे। जब काट-पीट अधिक हो जाती तब मामाजी समझ जाते कि कोई गड़बड़ की गई है। शुरू से ही मुझे हिन्दी में अच्छे अंक आते थे। दूसरे विषयों में भले ही कम अंक आते हों!

मैं पाठ्य पुस्तकें ही नहीं, अन्य पुस्तकें भी पढ़ता था। मामाजी के पास एक छोटा-मोटा पुस्तकालय था। उनके यहाँ पत्रिकाएँ भी आती थीं। उन दिनों *बाल सखा* नाम की एक पत्रिका थी जिसमें बच्चों के पत्र भी छपते थे। सम्पादक उनके उत्तर भी देते थे। पता नहीं कैसे, मेरे मन में आया कि मैं भी एक पत्र लिखूँ। मैंने एक पत्र सम्पादक के नाम भेज दिया जिसमें मैंने लिखा था, "मेरा छोटा भाई मुझसे बहुत लड़ता है, मैं क्या करूँ?"

पत्र लिखने के करीब दो महीने बाद स्कूल की छुट्टी हो जाने पर एक लड़का मेरे पास दौड़ा-दौड़ा आया और बोला कि तुम्हारा पत्र *बाल सखा* में छपा है। मुझे तो विश्वास ही नहीं हो रहा था, लेकिन उसी लड़के ने जब *बाल सखा* की प्रति दिखाई तो मैं गद्‌गद हो गया। नियति ने शायद उसी दिन मेरे लेखक होने की घोषणा कर दी थी।

इन्दिरा गाँधी

उस गुड़िया के बिना

मेरा जन्म 19 नवम्बर 1917 को इलाहाबाद में 'आनन्द भवन' में हुआ था। मेरे जन्म के बाद मेरी दादी स्वरूप रानी आम लोगों की तरह दुखी हो गईं। वे कह उठीं, "ओह! लड़का होना चाहिए था!" मेरे दादा पण्डित मोतीलाल नेहरू दादी की बात सुनकर बोले, "तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। यहाँ तक कि सोचनी भी नहीं चाहिए। हमने कभी बेटे और बेटियों में भेद नहीं किया है। जवाहर लाल की यह बेटी हज़ारों बेटों से अधिक यश कमाएगी!"

दादाजी ने अपनी माँ के नाम पर मेरा नाम इन्दिरा रखा। मेरे पिता जवाहर लाल नेहरू और माता कमला ने मेरा नाम प्रियदर्शिनी रख दिया।

आनन्द भवन के अहाते में बनी एक कुटिया में मुंशी मुबारक अली रहते थे। वे आनन्द भवन के प्रबन्धक थे। दादाजी उनका बहुत खयाल रखते थे। वे कुछ दिनों से बीमार चल रहे थे। बीमारी की हालत में भी वे कहा करते थे कि मैं जवाहर की सन्तान को देखे बिना नहीं मरूँगा। मेरे जन्म के कुछ दिन बाद दादाजी मुझे एक कश्मीरी शाल में लपेटकर उनके पास ले गए। मुंशी जी ने मुझे गोद में लिया और दादा-दादी से कहा, "जवाहर का बेटा आपको मुबारक हो। अल्लाह बच्चे को अपनी दुआ दे। यह बच्चा उसी तरह जवाहर का होनहार बेटा हो, जिस तरह जवाहर आपका होनहार बेटा साबित हुआ। बच्चा नेहरू परिवार का नाम रोशन करे।"

मुंशी जी को कैंसर था। कुछ ही दिनों में वे मर गए। लेकिन अन्त तक वे यही समझते रहे कि मोतीलाल के पोती नहीं, पोता हुआ है!

आनन्द भवन उन दिनों आज़ादी की लड़ाई का प्रमुख केन्द्र हुआ करता था। इसलिए मैंने अपनी आँखें उसी वातावरण में खोलीं। मैं छोटी ही थी कि गाँधी जी ने विदेशी कपड़ों की होली जलाने का आह्वान किया। मुझे याद है कि घर के सभी विदेशी कपड़े एक जगह जमा कर दिए गए – एक से एक कीमती और सुन्दर रंगों वाले। मुझे उन कपड़ों के ढेर पर उछलना और आँख मिचौनी खेलना बहुत अच्छा लग रहा था। जब कपड़ों को जलाने की बारी आई तो मुझे अन्दर बिस्तर पर लिटा दिया गया। मैं रोने लगी तो दादाजी मुझे उठा ले गए। मैं उनकी गोद में ही सो गई। सोते-सोते मैंने बस इतना देखा कि एक जलती हुई लकड़ी ढेर की ओर फेंकी गई थी और कपड़ों से आग की लपटें उठने लगी थीं।

इस होलिका-दहन के कुछ दिनों बाद मेरी माँ की कोई रिश्तेदार पेरिस से लौटकर मिलने आईं। वे मेरे लिए बहुत बढ़िया ड्रेस लाई थीं। मेरी माँ ने उन्हें बताया कि "अब हम विदेशी कपड़े नहीं पहनते, बल्कि हाथ से बुने हुए कपड़े पहनते हैं।" माँ की रिश्तेदार माँ की बात समझ नहीं पाईं। वे माँ की ओर देखने लगीं। उन्होंने देखा कि मोटे कपड़ों की रगड़ से माँ की त्वचा छिल गई है। वे चिल्लाकर बोलीं, "मुझे लगता है आप लोग पागल हो गए हैं।" फिर उन्होंने कहा, "मैं यह ड्रेस बच्ची के लिए लाई हूँ, उसे तो कम से कम पहनने दें?"

माँ ने मुझे बुलाया और कहा, "इन्दु! आण्टी तुम्हारे लिए विदेशी फ्रॉक लाई हैं। यह बहुत सुन्दर है। तुम्हारा मन हो तो तुम इसे पहन सकती हो। लेकिन इसे पहनने से पहले उस आग को याद कर लो जो हमारे कपड़ों को जलाने से निकली थी!"

मेरे लिए बड़ी अजीब स्थिति बन गई। एक तरफ उस सुन्दर फ्रॉक का प्रलोभन था तो दूसरी तरफ माँ की बात। मैंने फ्रॉक लेने के लिए हाथ बढ़ा दिया लेकिन फ्रॉक हाथ तक पहुँचने से पहले कह दिया, "इसे दूर हटाओ। मैं इसे नहीं पहनूँगी।" उन आण्टी ने पूछा, "क्यों, तुम्हें अच्छी चीज़ें पसन्द नहीं हैं?" मैंने कहा, "पसन्द तो हैं लेकिन...!" मैंने उन तर्कों को दोहरा दिया जो बुज़ुर्गों के विचार-विमर्श के दौरान मैंने सुन रखे थे। मेरी बातें

सुनकर आण्टी बोल पड़ीं, "फिर तुम यह विदेशी गुड़िया क्यों नहीं जला देतीं?"

बिना सोचे-समझे की गई उनकी इस टिप्पणी ने मेरे मन को दुखी कर दिया। मैं उस गुड़िया को जी-जान से चाहती थी। वह मेरी सहेली थी, बच्ची थी। मुझसे उसे अलग करने की बात कही गई थी!

कई सप्ताह बीत गए। मैं उस बात को भूल नहीं पाती थी। और मेरे मन में द्वन्द्व चल रहा था। इतनी सुन्दर गुड़िया को फेंकने की बात एक तरफ थी, तो दूसरी तरफ देश के प्रति कर्त्तव्य की भावना। मैं हमेशा सोचती रहती। मुझे नींद नहीं आती। आखिर मैं एक दिन गुड़िया लेकर छत पर गई और उसमें आग लगा दी। गुड़िया में आग लगाते ही मेरी आँखों में आँसू आ गए। वे थम ही नहीं रहे थे। मैं बीमार हो गई। कुछ दिन मुझे बुखार रहा।

घर में दिन-रात राजनैतिक गतिविधियाँ होती रहती थीं। उन बैठकों को देखकर मैं भी एक खेल खेलने लगी थी। मैं घर के नौकरों को जमा कर लेती थी और मेज़ पर खड़ी होकर उनके सामने भाषण देती थी। बड़ों से सुनी हुई बातें अपने टूटे-फूटे वाक्यों में दुहराती थी।

बचपन में मनाए जाने वाले पर्व-त्योहारों की भी मुझे याद है। घर में होली, दीवाली, दशहरा, ईद सभी धूमधाम से मनाए जाते। दीवाली में रात को बाग में आतिशबाज़ी की जाती। दशहरे में पूरे घर को पीले फूलों से सजाया जाता। ईद में अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने को मिलते। क्रिसमस पर मेरे लिए 'क्रिसमस ट्री' लगाए जाते और मुझे उपहार दिए जाते। नए साल पर पार्टी की जाती। पिताजी मुझे जो उपहार देते उनमें किताबें ज़रूर होती थीं।

मैं छह साल की हुई तो दादाजी ने मेरी माँ से परामर्श किया और मुझे सेसिलिया हाई स्कूल में दाखिल करा दिया गया। दादाजी और पिताजी के बार-बार जेल जाने के कारण मेरी औपचारिक शिक्षा रुक-रुक जाती। फिर पिताजी को ब्रिटिश काल की पाठ्यपुस्तकें पसन्द भी नहीं थीं। इसलिए वे मुझे अलग-अलग तरह की किताबें पढ़ने को देते। जेल में रहते हुए भी वे मुझे अलग-अलग विषयों की किताबें खरीदने को कहा करते। मुझे पढ़ने

का शौक था ही, मैंने परियों की कहानियाँ, शेक्सपियर के नाटकों के बाल संस्करण, चार्ल्स डिकेन्स, बर्नाड शॉ, रामायण, महाभारत और अन्य महत्वपूर्ण कृतियों की कहानियाँ बचपन में ही पढ़ डालीं।

घर की बदली हुई जीवन शैली को मैंने बचपन में ही अपना लिया था। शान-शौकत की जगह पर सादगी, यूरोपीय व्यंजनों की जगह पर सादे भारतीय व्यंजन! बड़े-बुज़ुर्ग देश की आज़ादी की बातें करते, मैं उन्हें सुना करती थी। उन्हीं दिनों मैंने जोन ऑफ आर्क की कहानी पढ़ी। देश की आज़ादी के लिए उनके बलिदान से मैं इतना प्रभावित हुई कि मैं भी जोन ऑफ आर्क बनने की कोशिश करने लगी।

मैं नौ साल की थी जब मेरी माँ को तपेदिक हो गया। पिताजी इलाज के लिए उन्हें स्विट्ज़रलैण्ड ले गए। मैं भी उनके साथ गई। बाद में दादाजी और बुआ भी वहाँ पहुँचे। मुझे वहाँ ल इकोल नवेले स्कूल में दाखिल करा दिया गया। वहाँ मैंने फ्रेंच सीख ली और जल्द ही बोलने भी लगी।

माँ का सेनेटोरियम मोनटाना में था जहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता देखने लायक थी। पर्वत श्रेणियों, घाटियों और झीलों के दृश्य बड़े सुहाने थे। सर्दियों में मैंने पहली बार यहीं बर्फ गिरते हुए देखी। मुझे वह दृश्य बहुत सुन्दर लगा। मैं बर्फ पर हर वक्त खेलती रहती। कभी पिता के साथ बर्फ पर फिसलती। पिता कई बार बर्फ पर गिरे भी, लेकिन फिर उन्होंने बर्फ पर खेलना सीख लिया। मैंने पिता के साथ लन्दन, पेरिस और बर्लिन जैसे बड़े शहरों को भी देखा। वहाँ होटलों की भव्यता आनन्द भवन से भी अधिक थी। सड़कों और गलियों में चलने वाले लोग सुन्दर वस्त्रों से सजे रहते, दुकानों में सुन्दर और महँगी चीज़ें सजी होतीं।

मैं उस समय दस वर्ष की थी। इस भव्यता को देखकर मैं मन ही मन अपने देश से इसकी तुलना करती रहती। इलाहाबाद के गरीबों, भिखारियों और कुष्ठ रोगियों के बारे में सोचती रहती। दोनों जगहों के अन्तर को देखकर मेरे मन में ढेर सारे प्रश्न उठते। मैं व्याकुल रहती। फिर एक दिन पिता ने मुझे समझाया कि पश्चिम के देशों की अधिकांश चमक-दमक भारत जैसे

उपनिवेशों से छीनी गई सम्पत्ति के कारण है। पिता ने मुझे पश्चिमी देशों की गरीबी से भी परिचित कराया। और बताया कि पश्चिम के देश भी शोषण की समस्या से मुक्त नहीं हैं। यहाँ भी शोषित-वंचित लोगों की कोई कमी नहीं है।

यूरोप में रहते हुए कुछ समय मैंने जिनेवा के इंटरनेशनल स्कूल में भी पढ़ाई की। छुट्टियों में पिता मुझे विश्व की प्रमुख हस्तियों के दर्शन के लिए भी ले जाते थे। रोम्यां रोलां, आइंस्टाइन, बर्नाड शॉ, चार्ली चैपलिन जैसी हस्तियों से मैं वहीं रहते हुए मिली थी। मुझे यह देखकर बहुत अच्छा लगता था कि विश्व के ये महान लोग मेरे पिता को स्नेह करते थे और उनका आदर करते थे।

1927 में हम लोग वापस भारत लौट आए। दिसम्बर में होने वाले काँग्रेस के मद्रास अधिवेशन में दादाजी और पिताजी को भाग लेना था।

देश में आज़ादी का संघर्ष ज़ोर पकड़ रहा था। "साइमन, वापस जाओ" का नारा दिया गया। लाहौर में इसी दौरान पुलिस की लाठियों से लाला लाजपत राय की मृत्यु हो गई। 1929 में लाहौर अधिवेशन में 'पूर्ण स्वराज' के लक्ष्य की घोषणा कर दी गई। मार्च 1930 में गाँधीजी ने दाण्डी यात्रा आरम्भ कर दी। इसका असर पूरे देश पर हुआ। पिताजी को 14 अप्रैल को गिरफ्तार कर लिया गया। सजा काटकर आने के बाद 19 अक्तूबर को उन्हें फिर से गिरफ्तार कर लिया गया।

इलाहाबाद का नेतृत्व अब माँ के हाथ में था। मैंने भी माँ के साथ नमक कानून तोड़ने के आन्दोलन में भाग लिया। मेरे साथ और बच्चे भी आन्दोलन में भाग लेने लगे। इलाहाबाद के मॉडर्न स्कूल के विद्यार्थियों ने आन्दोलन में हिस्सा लेते हुए अपने स्कूल में राष्ट्रीय ध्वज फहराने का निर्णय लिया। उन्हें रोकने के आदेश जारी किए गए। उनकी सहानुभूति में दूसरे स्कूलों के बच्चे भी जुलूस निकालकर मॉडर्न स्कूल पहुँचे। स्कूल के विशाल मैदान में विद्यार्थियों की भीड़ जमा हो गई। पुलिस आ गई। यह बात जानकर माँ मॉडर्न स्कूल चल पड़ीं। रणजीत पण्डित, विजय लक्ष्मी

पण्डित और कृष्णा नेहरू भी उनके साथ चल पड़ीं। मैंने भी उनके साथ चलने का आग्रह किया। मेरा आग्रह मान लिया गया। मॉडर्न स्कूल पहुँचकर माँ ने बड़ी कुशलता से बच्चों की भीड़ को सम्हाला। वहीं दूसरी तरफ मैं एक सार्जेंट से बहस में उलझी थी। सार्जेंट ने एकाएक मुझे मारने के लिए अपना डण्डा उठा लिया। मैं बिना डरे खड़ी रही। उसी समय पुलिस सुपरिंटेंडेंट श्री मेज़र्स आ गए और उन्होंने अपने सार्जेंट को रोका।

पिताजी के जेल में रहने से माँ की व्यस्तता बढ़ती जा रही थी। वे इलाहाबाद की गलियों में पैदल चलती थीं। चलते हुए बच्चे "कमला नेहरू की जय" के नारे लगाते। एक दिन माँ को बच्चों के बीच देखकर एक वृद्ध महिला ने कहा, "राम की वानर सेना की तरह तुम्हारी वानर सेना भी जोश से भरी है।" उसी समय माँ ने मेरी ओर देखा और कहा, "वृद्ध महिला ने हमें एक अच्छा विचार दे दिया है। क्यों न अपने आन्दोलन में सहायता के लिए हम वानर सेना का गठन कर लें?"

उसी समय उन बच्चों के बीच वानर सेना के गठन की घोषणा कर दी गई। चौदह वर्ष तक के बच्चों को उसमें शामिल करने का फैसला किया गया। मुझे इस संगठन के काम को हाथ में लेने को कहा गया। मैं एक-एक कर शैक्षणिक संस्थानों में जाने लगी और बच्चों को वानर सेना में भर्ती होने की अपील करने लगी। ढेर सारे बच्चे हमारी सेना में शामिल होने लगे। हमारा आन्दोलन रंग लाने लगा।

जुलाई 1930 में हमने वानर सेना का जुलूस निकाला। इलाहाबाद के लोग इस जुलूस को दत्तचित्त होकर देख रहे थे। मैं उस जुलूस में आगे चल रही थी। उस दिन हमने सभा भी की। मैंने बच्चों से अपील की कि वे सत्याग्रह शिविरों के लिए राशन जमा करें, सत्याग्रह के बुलेटिन बाँटें, 'वानर सेना पैसा फण्ड' के लिए प्रत्येक परिवार से एक पैसा प्रतिदिन चन्दा इकट्ठा करें।

हमारी वानर सेना के बारे में जानकर पिताजी जेल में बहुत खुश हुए। दादाजी ने जेल से बहुत मज़ेदार पत्र लिखा, "इन्दु! वानर सेना में तुम्हारा क्या स्थान है? मैं सुझाव दूँगा कि प्रत्येक सदस्य एक पूँछ लगाए। उसकी

लम्बाई उसके पद के अनुसार होनी चाहिए। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है कि वानर सेना का चिह्न हनुमान को बनाया जाए परन्तु हनुमान को बिना गदा के दिखाया जाए। गदा हिंसा का प्रतीक है और हमारा संघर्ष अहिंसक है।"

हमारी वानर सेना तरह-तरह के काम करती थी। अनाज और फण्ड जमा करने के अलावा झण्डे बनाना, लिफाफों पर पते लिखना, जुलूस में स्वयं-सेवकों को पानी पिलाना, पोस्टर चिपकाना आदि। वानर सेना का काम एक दल से दूसरे दल तक सूचना पहुँचाना भी था। हम यह काम इतनी सफाई से करते थे कि किसी को कानों-कान खबर तक नहीं होती थी। किसी की गिरफ्तारी के लिए जब पुलिस मकान को घेर लेती थी तब हम में से कोई बड़े भोलेपन से अन्दर जाता और सम्बन्धित व्यक्ति को सूचना पहुँचा आता। पुलिस समझती कि ये बच्चे तमाशा देखने आए हैं, लेकिन हम सूचना पहुँचाने जाते थे। इसी तरह थाने के आसपास कबड्डी या कोई और खेल खेलने का बहाना कर हम सिपाहियों की बातचीत सुना करते थे और किसी की गिरफ्तारी का भेद पाकर उस व्यक्ति तक खबर पहुँचा देते थे!

पिताजी मुझे जेल से पत्र लिखा करते थे। उनके पत्र हमेशा प्रेरणा देने वाले और दुनिया भर की बातें बतलाने वाले होते थे। एक बार पिताजी ने मुझे लिखा था, "जिस वर्ष तुम्हारा जन्म हुआ था, अर्थात् 1917 में, वह इतिहास का स्मरणीय वर्ष है जब एक महान नेता ने दीन-दुखियारों के लिए प्यार और सहानुभूति से भरे हृदय के साथ इतिहास का श्रेष्ठ और अविस्मरणीय अध्याय लिखा था। यही वह महीना है जब तुम्हारा जन्म हुआ और उसी महीने में लेनिन ने महान क्रान्ति प्रारम्भ की जिससे रूस और साइबेरिया की काया ही पलट गई।"

पिताजी के पत्रों से मेरी अनौपचारिक शिक्षा होती रहती थी। लेकिन पिताजी मेरी औपचारिक शिक्षा के लिए भी चिन्तित रहते थे। गाँधीजी ने भी उन्हें सुझाव दिया था कि इन्दिरा को जेल जाने की अपेक्षा स्कूल जाना चाहिए। पिताजी ने पुणे के प्यूपिल्स ओन स्कूल के बारे में सुन रखा था।

इस स्कूल को राष्ट्रीय विचारधारा से ओत-प्रोत एक पारसी दम्पती चलाते थे। उन्होंने मुझे उसी स्कूल में पढ़ने के लिए भेज दिया। 1934 में मैंने बम्बई विश्वविद्यालय से मैट्रिक की परीक्षा पास की। इसके बाद शान्तिनिकेतन पढ़ने चली गई।

❖

ए.के. हंगल

पिताजी ने दिखाए बहुत से नाटक

बचपन की कितनी यादें होती हैं जो बड़े होने पर भी मन से नहीं निकलतीं – माँ की यादें, घर-परिवार की यादें, स्कूल की यादें। लेकिन मेरे मन में माँ की बस एक ही याद है – उनकी अन्तिम यात्रा की याद। मैं चार-पाँच वर्ष का रहा होऊँगा। घर में सभी लोग रो-चिल्ला रहे थे; मेरी माँ शान्त एवं निश्चल पड़ी हुई थीं।

माँ की मृत्यु के बाद मैं पिता के साथ पेशावर में ही रहा। सियालकोट यानी नानी के घर कभी-कभार जाता रहता था। वहाँ एक आइसक्रीम वाला था जो रोज़ सुबह मुझे एक आइसक्रीम देकर चला जाता था। कहता था, "तुम्हारी बोहनी करने से मेरी बिक्री अच्छी होती है।" मैं भी इस आइसक्रीम वाले की उत्सुकता से प्रतीक्षा करता था।

एक पहलवानजी भी मुझे खूब याद आते हैं। मेरे स्कूल के पास ही वे एक दुकान में काम करते थे। पहलवानी तो करते ही थे। एक बार वे एक अपराध में फँस गए। उसका प्रायश्चित उन्होंने किया और पवित्र जीवन व्यतीत करने लगे। अपने अच्छे व्यवहार से उन्होंने मोहल्लेवालों का दिल जीत लिया। उनका अपना परिवार नहीं था। वे मुझे अपने बच्चे की तरह ही समझते थे। अपने साथ मुझे कुश्ती के दंगल, मेले, सर्कस आदि में ले जाते थे। सर्कस में काम करने वाले लोगों के चमत्कार देखकर मैं दंग रह जाता था। घर आकर उनकी देखा-देखी छाती पर पत्थर तोड़ने की कोशिश करता, पर पत्थर थे कि टूटते ही नहीं थे। इसी तरह लोगों को

अपनी छाती पर से कार गुज़ारते देखकर एक बार मैंने भी अपनी छाती पर से साइकिल को गुज़रने दिया था।

एक मुस्लिम फकीर से मिलने के बाद पहलवानजी और भी धार्मिक प्रवृत्ति के हो गए। वे दाढ़ी रखने लगे और दिन में पाँच बार नमाज़ पढ़ने लगे। एक दिन वे सख्त बीमार हो गए लेकिन उन्होंने डॉक्टर से अपना इलाज नहीं करवाया। मैं उनके पास गया। कहा, "आप हमें डॉक्टर बुलाकर दवा दिलवाने की अनुमति क्यों नहीं देते?" इस पर उन्होंने कहा, "अवतार! मैं एक पापी हूँ। मुझे यह कष्ट भोगने दो। यदि मैं दवाइयाँ लेकर मृत्यु का मुकाबला करूँगा तो भगवान मुझे कभी माफ नहीं करेगा।"

मैं निरुत्तर हो गया। एक सन्त पुरुष का अपने पापों का प्रायश्चित करने का यह तरीका था – विचित्र ही सही!

पेशावर में मैं खालसा हाई स्कूल में पढ़ता था। वहाँ सुबह-सुबह कक्षाएँ आरम्भ होने से पहले सामूहिक प्रार्थनाएँ होती थीं। मुझे प्रार्थना से बस एक ही परेशानी थी – जूते उतारकर धूल भरे मैदान में खड़े होकर प्रार्थना करने से मेरे साफ धुले मोज़े खराब हो जाते थे। मैंने एक दिन बहुत धीमी आवाज़ में इसका प्रतिवाद किया। प्रधानाध्यापकजी ने मुझे बुलाया। मैंने उन्हें अपनी समस्या बताई। उन्होंने कहा, "अगर तुम्हारी यही समस्या है तो मोज़े मत पहनो।"

"पर माँ ज़िद करती थीं कि मोज़े पहनो," मैंने कहा।

"क्यों?" उन्होंने पूछा।

"मैं नहीं जानता।"

"तुम माँ से क्यों नहीं पूछते हो?"

मैंने कहा, "वे अब इस दुनिया में नहीं हैं।"

प्रधानाध्यापकजी ने मेरी ओर एक क्षण के लिए देखा और कहा, "तुम कक्षा में ही प्रार्थना कर लिया करो।" इसके बाद मैं अकेले ही कक्षा में प्रार्थना किया करता था। किन्तु यह प्रार्थना मैं अपने वृद्ध प्रधानाध्यापक की लम्बी उम्र के लिए किया करता था।

हमारे स्कूल के अध्यापक अलग-अलग किस्म के थे। एक पी.टी.आई. थे। मिलेट्री के हवलदार पद से सेवानिवृत्त हुए थे। कड़क स्वभाव के थे। मुँह से गालियाँ निकालते रहते। एक दिन मैंने प्रतिवाद किया तो मुझे कक्षा से निकाल दिया। मैंने शारीरिक प्रशिक्षण की कक्षाओं में भाग लेना बन्द कर दिया।

एक अध्यापक मारते वक्त बिलकुल जंगली और असभ्य हो जाते थे। एक बार उनकी सण्टी की मार खाकर मैं गिर पड़ा। मेरी बाईं आँख के ऊपर गहरा घाव हो गया। मैं घर की ओर भागा। मेरे चेहरे पर खून देखकर पिताजी काफी क्रुद्ध हुए। वे मुझे डॉक्टर के पास ले गए। वे तो उन अध्यापक को सबक भी सिखाना चाहते थे लेकिन उन्हीं वृद्ध प्रधानाध्यापक के समझाने-बुझाने पर मान गए।

एक अध्यापक कभी-कभी खतरनाक किस्म का मज़ाक किया करते थे। एक बार उन्होंने एक छात्र को बुलाया और उसे कक्षा की तरफ मुँह करके खड़ा होने को कहा। जब छात्र खड़ा हो गया तब उसे आँखें बन्द कर हथेली सामने की ओर फैला देने को कहा। फिर अध्यापक ने छात्र की खुली और फैली हथेली पर कोई चीज़ रख दी और उसे मुट्ठी बन्द कर लेने को कहा। छात्र ने मुट्ठी में बन्द चीज़ को देखने के लिए आँखें खोलीं तो वह एकदम से सहम गया। उसने तुरन्त उसे दूर फेंक दिया। दूर जो फेंका गया था वह एक ज़िन्दा बिच्छू था!

हालाँकि ऐसी दुष्टतापूर्ण कार्यवाही करने से पहले अध्यापक ने बिच्छू के डंक निकल दिए थे, लेकिन जिसके हाथ में बिच्छू रख दिया गया था उसकी हालत का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। इस तरह का मज़ाक जो छात्र सह लेते थे वे उनके प्रिय छात्र बन जाते थे। पर उनकी मेहरबानी से मैं उनमें से नहीं था।

मैं कोई प्रतिभाशाली छात्र नहीं था। अंकगणित में सदैव मुझे शून्य ही मिला। पिताजी ने अंकगणित पढ़ाने के लिए एक निजी शिक्षक भी लगा दिया, लेकिन वह शिक्षक मेरे लिए जो होमवर्क दे जाते थे उसे वही पूरा करते थे! हाँ, मुझे बाँसुरी बजाना बहुत अच्छा लगता था। नाथियागलि की

पहाड़ियों पर जब हम गर्मियों की छुट्टियाँ बिताने पिताजी के साथ जाते, मैं स्थानीय पहाड़ी धुनों को बजाता था। लोग मेरे चारों ओर जमा हो जाते और बाँसुरी सुनते। मुझे रेखांकन भी पसन्द था। एक बार मैंने एक महिला की तस्वीर बनाई। उसके चेहरे पर अवसाद की रेखाएँ थीं, इसलिए मैंने इस चित्र का नाम 'चिन्ता' रखा था।

बचपन में मैं नाटक भी खूब देखा करता था। जब कभी पेशावर में कोई पारसी नाटक मण्डली आती थी तो यह समाचार हमारे लिए खुशखबरी की तरह ही होता था। पिताजी मुझे इन नाटकों में अपने साथ ले जाया करते थे। हम लोग रात को भोजन करके जाया करते थे और प्रायः सूर्योदय से पहले तक रुकते थे। चार-पाँच घण्टे के नाटक हुआ करते थे। हालाँकि माइक्रोफोन नहीं होते थे, फिर भी मज़ा आता था। सम्भवतः यहीं से नाटकों की ओर झुकाव हुआ।

थोड़ा बड़ा होकर दर्ज़ी का काम करते हुए मैं कुछ लोगों को जमा कर लेता था और नाटक किया करता था। तब मैं बहुत खराब अभिनय करता था। आगे चलकर नाटकों की संस्था इप्टा से जुड़ाव हुआ। फिल्मों में तो मैं बहुत बाद में आया – अपने जीवन के चौथे दशक में। बासु भट्टाचार्य ने "तीसरी कसम" में एक छोटी-सी भूमिका करने को कहा। मैंने "हाँ" कर दी। आगे चलकर मैंने दो सौ से भी अधिक फिल्मों में काम किया, लेकिन पैसा कमाने की तरफ ज़्यादा ध्यान नहीं दिया।

अमृता प्रीतम

उसी गिलास में पिया दूध

मेरे जन्म से दस साल पहले की बात है। सन्त दयालजी के डेरे में नन्द नाम के एक कम उम्र के साधु रहते थे। डेरे में सभी उन्हें 'बालका साधु' कहते थे। पिता, भाई और बहन की मृत्यु से दुखी होकर वो साधु बन गए थे। नाना से मिली हुई सम्पत्ति का भी उन्हें कोई लोभ नहीं था। वे संस्कृत और ब्रजभाषा जानते थे। कविताएँ लिखते थे।

उसी डेरे में राज बीबी मत्था टेकने आया करती थीं। वे और उनकी विधवा भाभी गुज़राँवाला के एक छोटे-से स्कूल में पढ़ाती थीं। स्कूल जाते हुए वे दयालजी के डेरे पर माथा टेकने जातीं। एक दिन दयालजी के डेरे पर ही वर्षा शुरू हो गई। समय बिताने के लिए दयालजी ने बालका साधु को कविता सुनाने को कहा। कविता सुनाते हुए बालका साधु का ध्यान बार-बार राज बीबी की ओर जा रहा था। दयालजी ने देख लिया। राज बीबी का जीवन बहुत दुखद रहा था, यह वे जानते थे। उन्होंने बालका साधु को राज बीबी से विवाह कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने को कहा। बालका साधु ने अपने गुरु की बात मान ली।

गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के बाद बालका साधु ने अपना नाम करतार सिंह रख लिया। यही करतार सिंह मेरे पिता हुए और राज बीबी मेरी माता।

सन् 1918 की एक घटना के बारे में मैंने सुना है। उन दिनों मेरे माता-पिता पंचखण्ड भसोड़ के स्कूल में पढ़ाते थे। वहाँ के मुखिया थे तेजासिंह जी। उनकी बेटियाँ उसी स्कूल में पढ़तीं थीं। एक दिन उनके मन में न जाने

क्या आया कि वे गुरुद्वारे में प्रार्थना करती हुईं बोल पड़ीं, "मेरे मास्टर जी के घर एक बेटी बख्श दो!"

मेरे पिताजी ने उन बच्चियों को प्रार्थना करते हुए सुन लिया। उन्हें मेरी माँ पर ही गुस्सा आया। उन्हें लगा कि मेरी माँ ने ही उन्हें बेटी की प्रार्थना करने को सिखलाया है। लेकिन उन्हीं बच्चियों ने उन्हें बतलाया, "राज बीबी से पूछतीं तो वह शायद पुत्र की कामना करतीं, लेकिन हम तो अपने मास्टर जी के घर अपने जैसी लड़की चाहती हैं!"

उन बच्चियों की प्रार्थना सुन ली गई और एक साल बाद 31 अगस्त 1919 को मेरा जन्म हुआ। कविताएँ लिखने के कारण पिताजी अपने नाम के साथ 'पीयूष' तखल्लुस लगाते थे। उसी शब्द को पंजाबी में उलथा कर मेरा नाम 'अमृत' रख दिया और उन्होंने अपने नाम के साथ 'हितकारी' जोड़ लिया।

मैं पिताजी की शक्ल और स्वभाव दोनों लेकर पैदा हुई थी। पिताजी के स्वभाव में फक्कड़पन अभी भी कायम था। एक बार उनके एक गुरुभाई सन्त हरनाम सिंह की शादी उनके बड़े भाई करवाना चाहते थे। उनकी सगाई इसलिए रुक गई कि उनके पास अपना घर नहीं था। पिताजी को इस बात का पता चला तो उन्होंने अपने नाना की सम्पत्ति में से बचा हुआ एकमात्र मकान उनके नाम लिख दिया। इसके बाद वे पूरी उम्र किराए के मकान में रहे, लेकिन अपने निर्णय पर उन्हें कभी अफसोस नहीं हुआ।

बचपन की घटनाओं में से दो घटनाएँ मुझे अच्छी तरह याद हैं। एक तो यह कि उसी उम्र में मैंने नानी की रसोई के नियम के विरुद्ध विद्रोह किया था। मैं देखा करती थी कि परछत्ती पर तीन गिलास अन्य बरतनों से अलग हटाकर एक कोने में रखे रहते थे। ये गिलास पिताजी के मुसलमान दोस्तों के लिए अलग से रखे होते थे और उन्हीं के आने पर उतारे जाते थे। उन्हीं में उन दोस्तों को लस्सी या चाय दी जाती थी। मैंने नानी से विद्रोह किया और कहा कि मैं उन्हीं में से एक गिलास में दूध पीऊँगी, किसी और गिलास में नहीं। नानी ने बहुत बहलाया लेकिन मैं नहीं मानी। नानी को

झुकना पड़ा। वे मुझे भूखी-प्यासी तो नहीं रख सकती थीं? इसके बाद न कोई बरतन हिन्दू रहा, न मुसलमान! उस समय मैं कहाँ जानती थी कि आगे उसी धर्म के एक शख्स इमरोज़ से मेरी गहरी दोस्ती होने वाली थी?

दूसरी घटना माँ से सम्बन्धित है। मैं कोई ग्यारह बरस की थी कि एक दिन माँ अचानक बीमार हो गईं। एक सप्ताह बीतते-बीतते मेरी माँ की हालत खराब हो गई। लोग उनकी चारपाई को घेरे हुए थे। माँ मुझे ढूँढ रही थीं। माँ की सहेली प्रीतम कौर मुझे माँ के पास ले गईं। फिर मुझसे बोलीं, "तू ईश्वर से प्रार्थना कर! ईश्वर बच्चों का कहा नहीं टालते!"

मैं माँ की चारपाई के पास पत्थर बनकर खड़ी हो गई। खड़ी-खड़ी ईश्वर से कहा, "मेरी माँ को मत मारना!" मैं सोच रही थी मैंने ईश्वर से अपनी बात कह दी है, वे बच्चों की बात नहीं टालते, मेरी माँ अच्छी हो जाएँगी, लोग बेकार परेशान हो रहे हैं। लेकिन ईश्वर ने मेरी बात नहीं मानी। माँ मर गईं। मेरे मन में गुस्सा भर गया, "ईश्वर किसी की नहीं सुनते, बच्चों की भी नहीं!"

मेरे पिताजी मुझे छुटपन से ही ध्यान करने को कहते थे। माँ की मृत्यु के बाद मैंने ध्यान करना छोड़ दिया। पिताजी के पूछने पर मैंने वही बात कह दी, "अगर ईश्वर होते तो वे मेरी बात न सुनते?"

लेकिन पिताजी मुझे ध्यान करने बिठा ही देते। मैं डर से बैठ तो जाती लेकिन मेरे मन में विद्रोह पैदा होताः "आँखें बन्द कर भी अगर मैं ईश्वर का चिन्तन न करूँ तो पिताजी मेरा क्या कर लेंगे? जिस ईश्वर ने मेरी बात नहीं सुनी अब मैं उससे कोई बात नहीं करूँगी। उसका चिन्तन नहीं करूँगी।" मैं आँखें बन्द किए रहती, मेरे मन में दुनिया भर की बातें आती-जाती रहतीं।

माँ की मृत्यु के बाद पिताजी जीवन से फिर विरक्त हो गए। लेकिन मैं उनके लिए बन्धन थी। वे मोह और वैराग्य के बीच झूलते रहते। मुझे समझ में नहीं आता वे मुझे स्वीकार करते थे या अस्वीकार? मैं रो-रो पड़ती। ऐसे में साथ दिया कविता ने। पिताजी ने ही मुझे कविता लिखना सिखाया था,

तुक-छन्द के बारे में बतलाया था। मैं कविता लिखने लगी। लेकिन पिता की सख्त हिदायत थी कि मैं धार्मिक कविताएँ ही लिखा करूँ। मैं आज्ञाकारी बच्चे की तरह वैसी कविताएँ लिख भी देती थी। बाद में मैं अपने मन की कविताएँ लिखने लगी।

मेरे घर में ढेर सारी किताबें थीं। ज़्यादातर किताबें धार्मिक थीं। कई ऐतिहासिक भी। मैं ऐतिहासिक किताबें पढ़ती थी। मेरे पिता ने मुझे अक्षरों का सम्मान करना भी सिखाया। किसी किताब का कोई पृष्ठ नीचे गिरा होता तो वे उसे सम्मान के साथ उठा लेते थे। मेरा पैर कभी उन पृष्ठों पर पड़ जाता तो वे मुझ पर गुस्सा होते। इससे मेरे मन में अक्षरों के प्रति सम्मान का भाव जगा। इसके साथ-साथ कलमकारों के प्रति सम्मान का भाव भी जगा।

❖

ए.पी.जे. अब्दुल कलाम

उन्होंने मुझे अपनी रसोई में बैठाकर खिलाया

मेरा जन्म 15 अक्तूबर 1931 को रामेश्वरम् में हुआ। मेरा परिवार मध्यमवर्गीय परिवार था। रामेश्वरम् के विश्व प्रसिद्ध शिव मन्दिर से दस मिनट की दूरी पर हमारा पुश्तैनी घर था जो उन्नीसवीं शताब्दी के बीच के वर्षों में बना था। मेरे पिता जैनुलाबदीन ज़्यादा पढ़े-लिखे नहीं थे, न ही वे बहुत धनी व्यक्ति थे, लेकिन वे बुद्धिमान और उदार थे। उनकी प्रतिष्ठा थी। मुझे याद है कि शाम को नमाज़ से लौटते वक्त बहुत से लोग उनसे पानी छुलाते थे और बीमार लोगों को पिलाते थे। कई लोग ठीक होने के बाद पिताजी को धन्यवाद देने घर भी आते थे।

हमारे घर में कोई आडम्बर नहीं था। हालाँकि घर में आवश्यक सभी वस्तुएँ रहती थीं, लेकिन ऐशो-आराम वाली वस्तुओं को जमा करने में पिताजी को रुचि नहीं थी।

मेरी माँ आशियम्मा भी अच्छे स्वभाव की थीं। वे घरवालों को तो प्रेम से खिलाती ही थीं, बाहर के लोगों को भी रोज़ाना खाना खिलाती थीं। मैं अपनी माँ के साथ ही रसोई में खाया करता था। नीचे फर्श पर बैठकर केले के पत्ते में चावल और साम्भर, घर में बना अचार, नारियल की ताज़ा चटनी।

हम लोग जिस इलाके में रहते थे वहाँ मुसलमान ही अधिक थे। कुछ हिन्दू परिवार भी थे। सभी मिल-जुलकर रहते थे। रामेश्वरम् मन्दिर के सबसे

बड़े पुजारी पक्षी लक्ष्मण शास्त्री से मेरे पिता की गाढ़ी दोस्ती थी। ये दोनों अपने पारम्परिक वस्त्रों में होते और आध्यात्मिक बातों पर विचार-विमर्श किया करते। थोड़ा बड़ा होने पर मैं भी पिताजी से धर्म आदि पर सवाल करने लगा था। पिताजी बहुत आसानी से मुझे गूढ़ बातें समझा दिया करते थे।

पिताजी रोज़ सुबह जग जाते थे। चार बजे नमाज़ पढ़ने के बाद वे नारियल के बाग में जाते थे। कुछ नारियल कन्धे पर लादकर घर लौटते तभी नाश्ता वगैरह करते।

मैं छह साल का था कि पिताजी ने नावों का व्यवसाय शुरू किया। एक ठेकेदार अहमद जलालुद्दीन के साथ मिलकर पिताजी यह काम करने लगे। पिताजी का कारोबार काफी अच्छा चल रहा था, लेकिन एक दिन समुद्री तूफान के कारण उनकी नावें बह गईं। उन्हें बहुत नुकसान हुआ।

जलालुद्दीन से मेरी अच्छी दोस्ती हो गई थी, हालाँकि वे मुझसे पन्द्रह साल बड़े थे। हम दोनों साथ घूमने जाते। रास्ते में अध्यात्मिक चर्चा करते। बीच में पड़ने वाले शिव मन्दिर की परिक्रमा हम उतनी ही श्रद्धा से करते जितनी श्रद्धा से कोई तीर्थयात्री। समुद्र में नहा रहे श्रद्धालुओं को भी हम देखते। जलालुद्दीन को ईश्वर से विशेष जुड़ाव महसूस होता। मैं भी सोचता कि हमारी नमाज़ और मन्दिर की प्रार्थनाएँ एक ही जगह पहुँचती हैं।

जलालुद्दीन की पढ़ाई बहुत अधिक नहीं हुई थी लेकिन वे बहुत जानकार थे। वे पूरे इलाके में अँग्रेज़ी लिख सकने वाले एक-मात्र व्यक्ति थे। वे मुझे पढ़ाई के प्रति उत्साहित करते। मुझे साहित्यिक, वैज्ञानिक और शिक्षित व्यक्तियों के बारे में बताते रहते। नई-नई जानकारी देते रहते। मुझे याद है कि मैं जब आठ साल का था तो द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया। जलालुद्दीन मुझे विश्व युद्ध की खबरें बताते। मैं उन खबरों को अखबार में ढूँढने की कोशिश करता। मुझे अखबार की बातें समझ में नहीं आतीं, मैं तस्वीरों को देखकर ही सन्तोष कर लेता था।

आगे चलकर जलालुद्दीन से मेरी बड़ी बहन की शादी हो गई। हम दोनों और घनिष्ठ हो गए। जलालुद्दीन की ही तरह मेरे एक अन्तरंग मित्र थे शम्सुद्दीन। वे मेरे चचेरे भाई थे। अखबार के वितरक थे। रामेश्वरम् में उन दिनों अखबार का कोई और वितरक नहीं था। रोज़ सुबह अखबार लेने रामेश्वरम् स्टेशन पर पहुँचते थे। जब द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ा तो रामेश्वरम् में ट्रेनों का रुकना बन्द हो गया। अब अखबार रामेश्वरम् और धनुष कोडि के बीच चलती ट्रेन से गिरा दिए जाते थे। अखबारों का बण्डल जमा करने के लिए शम्सुद्दीन को एक मददगार की ज़रूरत महसूस हुई। शम्सुद्दीन ने इस काम के लिए मुझे रख लिया। वे मुझे कुछ पैसे भी देते थे। एक तरह से वह मेरी पहली नौकरी थी।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान पता नहीं क्यों इमली के बीजों की माँग बढ़ गई। मैं इमली के बीज जमा करता और परचून की दुकान पर उन्हें बेच आता। इससे भी मुझे एक आना रोज़ मिल जाता था। अखबार के अलावा पुस्तकों से भी बचपन में ही मेरा जुड़ाव हो गया था। एक पूर्व क्रान्तिकारी एस.टी.आर. मानिकम के निजी पुस्तकालय में ढेरों दुर्लभ पुस्तकें थीं। मानिकम मुझे पढ़ने के लिए उत्साहित किया करते थे। मैं उनके यहाँ से किताबें लाकर पढ़ा करता था।

बचपन में मेरे तीन दोस्त थे – रामानन्द शास्त्री, अरविन्दन और शिव प्रकाश। ये तीनों ब्राह्मण परिवार से थे। रामानन्द तो पक्षी लक्ष्मण शास्त्री का बेटा ही था। अलग धर्म होने के बावजूद हमने आपस में कभी कोई भेदभाव महसूस नहीं किया। असल में बचपन से ही हमने साम्प्रदायिक सद्भाव देखा था। हरेक साल सीता-राम विवाह समारोह में श्रीराम की मूर्ति को ले जाने वाली विशेष तरह की नाव हमारे परिवार द्वारा ही तैयार की जाती थी। मेरी माँ और दादी पैगम्बर मुहम्मद साहब की कहानियाँ ही नहीं, रामायण की कहानियाँ भी हमें सुनाया करती थीं।

इस सम्बन्ध में स्कूल की एक घटना मुझे याद है। स्कूल में मैं हमेशा अगली पंक्ति में रामानन्द शास्त्री के साथ बैठा करता था। एक बार स्कूल में एक नए शिक्षक हमारी कक्षा में आए। उन्हें एक मुसलमान लड़के का

एक हिन्दू लड़के के साथ बैठना अच्छा नहीं लगा। उन्होंने मुझे पिछली बेंच पर बैठने भेज दिया। मुझे बहुत खराब लगा। रामानन्द शास्त्री को भी खराब लगा। छुट्टी होने पर हमने अपने-अपने घर में यह बात बताई। पक्षी लक्ष्मण शास्त्री ने उन शिक्षक को अपने घर बुलाकर कहा कि बच्चों के मन में इस तरह साम्प्रदायिकता का ज़हर नहीं घोलना चाहिए। शास्त्रीजी ने उन्हें माफी माँगने या स्कूल छोड़कर चले जाने को कहा। उन्होंने माफी माँग ली। धीरे-धीरे उनकी सोच में भी बदलाव आ गया।

मेरे विज्ञान के शिक्षक सुब्रह्मण्य अय्यर कट्टर सनातनी ब्राह्मण थे। उनकी पत्नी रूढ़िवादी थीं। लेकिन सुब्रह्मण्य अय्यर रूढ़िवाद के खिलाफ काम करने लगे थे। वे मुझे बहुत मानते थे। मुझे उच्च शिक्षित व्यक्ति के रूप में देखना चाहते थे। एक बार उन्होंने मुझे अपने घर खाने पर बुलाया। उनकी पत्नी परेशान थीं। उन्होंने मुझे अपनी रसोई के भीतर खिलाने से मना कर दिया। अय्यर साहब इससे विचलित नहीं हुए। उन्होंने खुद मुझे परोसकर खाना खिलाया। वे खुद भी मेरे साथ बैठकर खाने लगे। चलते हुए उन्होंने मुझे अगले सप्ताह फिर से आने को कहा। मैं हिचकिचा रहा था। उन्होंने समझाया, "परेशान होने की बात नहीं है। व्यवस्था बदलने के लिए समस्याओं का सामना तो करना ही पड़ता है!"

अगले सप्ताह जब मैं उनके घर खाने पर गया तो उनकी पत्नी में बदलाव आ गया था। उन्होंने मुझे अपनी रसोई में बैठाकर खुद खाना खिलाया।

आगे की पढ़ाई के लिए मुझे ज़िला मुख्यालय रामनाथपुरम् जाना था। पिताजी ने अनुमति दे दी। जलालुद्दीन और शम्सुद्दीन मुझे श्वाट्र्ज़ हाई स्कूल में दाखिल करवा गए। मेरे रहने का भी बन्दोबस्त कर दिया। लेकिन मुझे यहाँ अच्छा नहीं लग रहा था। माँ की याद आती। घर की याद आती। कुछ दिन में पिताजी के सपनों को साकार करने के ख्याल से अपने मन को स्थिर किया और मेहनत करने लगा।

रामनाथपुरम् के श्वाट्र्ज़ हाई स्कूल में एक बहुत ही अच्छे शिक्षक थे – अयादुरै सोलोमन! वे छात्रों की प्रतिभा पहचान जाते थे। उसी के अनुरूप

छात्रों को सिखाया करते थे। उन्होंने मुझे सिखाया था: 'निष्ठा और विश्वास से तुम अपनी नियति बदल सकते हो!'

श्वाट्ज़ हाई स्कूल में एक बार एक शिक्षक ने मेरी पिटाई भी कर दी थी। वहाँ स्कूल की कक्षाएँ अलग-अलग समूहों में लगा करती थीं। गलती से मैं एक दूसरी कक्षा से होकर निकल गया। गणित के एक शिक्षक रामकृष्ण अय्यर को यह अपमानजनक लगा। उन्होंने मुझे भरी कक्षा के सामने बेंत लगाई। कुछ महीनों बाद इम्तिहान में जब गणित में मेरे पूरे अंक आए तब उन्होंने स्कूल की प्रार्थना के समक्ष सबको यह घटना सुनाई। उन्होंने यह भी कहा, "मैं जिसकी बेंत से पिटाई करता हूँ वह महान व्यक्ति बन जाता है।" उन्होंने यह भी घोषणा की कि "यह लड़का एक दिन अपने विद्यालय का गौरव बनेगा।"

श्वाट्ज़ हाई स्कूल की पढ़ाई पूरी कर इंटरमीडिएट की पढ़ाई के लिए मैं तिरुचिरापल्ली चला गया। तिरुचिरापल्ली से रामेश्वरम् लौटने पर मैं कभी-कभी बड़े भाई की परचून की दुकान पर थोड़ी-बहुत मदद कर देता था। मुझे यह देखकर आश्चर्य होता था कि सिगरेट और बीड़ी की बिक्री सबसे अधिक होती थी। गरीबों के पैसों को धुएँ में उड़ता देख मैं बहुत दुखी होता था।

❖

बृजमोहन मिश्र

गीत गाकर बचता था गणित से

हम लोग मूल रूप से उत्तर प्रदेश के हड़िया के रहने वाले हैं, लेकिन संगीत का घराना होने के कारण हम लखनऊ में रहे। कई पीढ़ियाँ पहले हमारे खानदान के लोग लखनऊ के नवाब असफाउद्दौला के दरबार में संगीतकार थे। आगे चलकर मेरे दादा श्री कालिका प्रसाद, ठाकुर प्रसाद और दुर्गा प्रसाद नवाब वाजिद अली शाह के उस्ताद रहे। 1857 के गदर में जब अँग्रेज़ों ने वाजिद अली शाह पर हमला किया, तब बम का गोला हमारे घर पर भी गिरा था। वाजिद अली शाह की हार के बाद हमारे दादा लोग कुछ दिनों के लिए राजस्थान चले गए। फिर लौटकर लखनऊ आए। मेरा जन्म लखनऊ में 4 फरवरी 1938 को हुआ। मुझसे बड़ी तीन बहनें थीं। मैं सबसे छोटा था।

मेरे पिता पण्डित अच्छन महाराज रामपुर के नवाब के यहाँ बाईस-तेईस साल तक रहे। नवाब साहब उन्हें बहुत मानते थे।

मेरा संगीत सीखना बहुत छोटे में ही शुरू हो गया था। घर का पूरा वातावरण ही संगीत में डूबा रहता था। सुबह चार बजे से ही तबला बजने लगता था, लोग नाचने लगते थे। देखते-देखते मैं भी नाचना सीख गया। छह साल का था, तभी दर्शकों के सामने नाचने लगा था। पिताजी या चाचाजी जहाँ कहीं नाचने जाते, मुझे भी साथ ले जाते। अपने कार्यक्रम से पहले पन्द्रह-बीस मिनट मुझे नचा देते। मैं छोटा था और नाच लेता था, इसका प्रभाव दर्शकों पर पड़ता था। वे खूब तालियाँ बजाते थे। एक बार तो ऐसा हुआ कि कलकत्ते के कार्यक्रम में जो इनाम रखा हुआ था, वो न मेरे पिताजी को मिला और न ही चाचाजी को। वो मुझे मिला।

लखनऊ से हम लोग दिल्ली आ गए। निर्मला जोशी ने एक स्कूल शुरू किया, 'हिन्दुस्तानी म्यूज़िक एण्ड डांस।' यह स्कूल बाद में 'संगीत भारती' नाम से मशहूर हुआ। पिताजी इसमें शिक्षक हो गए। उनके साथ मैं भी स्कूल जाता था। स्कूल में पिताजी बड़े लड़कों को जो सिखाते थे मैं वो तालीम याद कर लेता था। घर जाकर पिताजी से कहता, "बाबूजी! आप जो उनको सिखा रहे थे, मैं करके दिखाऊँ?" माँ कहतीं, "देख लीजिए न? बच्चा है, करके दिखलाना चाहता है।" पिताजी देखते तो खुश हो जाते। तब वे मुझे सिखाते थे। भगवान की कुछ ऐसी कृपा रही कि इशारों में जो समझाया करते थे, क्षण भर में मैं समझ लेता था। उससे वे और खुश होते थे। सीखने में कभी डाँट-वाँट भी नहीं खाई।

पिताजी से मैंने गण्डा भी बँधवाया था। उनके शिष्यों को गण्डा बँधवाते देख मेरे मन में भी यह बात आई। गण्डा बँधवाने में नज़राने के रूप में गुरु को कुछ देना होता था। मेरे पास पाँच सौ रुपए थे। पिताजी जानते थे कि मैंने इधर-उधर कमाकर जमा किए हैं। तो पूरे पाँच सौ एक रुपए देकर मैंने उनसे गण्डा बँधवाया था। उन पैसों में से एक पैसा भी पिताजी ने हमें नहीं दिया – न अम्माँ को, न मुझे। कहा कि ये तो मेरे हैं।

मैं दस साल का भी नहीं हुआ था कि पिताजी की मृत्यु हो गई। जौनपुर में उनका कार्यक्रम था। वहीं उनको लू लग गई। उस कार्यक्रम में वे नहीं नाच सके। उसमें मैं नाचा था। जौनपुर से लौटकर आए, कुछ दिन बीमार रहे, फिर चल बसे।

पिताजी की मृत्यु के बाद घर की स्थिति ठीक नहीं रही। मेरी पढ़ाई भी छूट गई। मैं कथक में ही पूरी तरह रम गया। अम्माँ मुझे लेकर जयपुर, नेपाल आदि जाया करती थीं। उनको लगता था कि बेटे को लोग जानें और कुछ पैसे भी आएँ। अम्माँ चाहती थीं कि मैं भी अपने परिवार वालों की तरह संगीत सीखूँ। वे मुझे पुरखों की कहानियाँ सुनाया करती थीं। बाबा, पड़बाबा की उपलब्धियों के बारे में बतलाया करती थीं। किनको पुरस्कार में हाथी मिला था, किनको हार? किनको कौन नवाब मानते थे? इस तरह की बातें अम्माँ बतलाया करती थीं। इस तरह से संगीत का वातावरण मेरे मन में भरती रहती थीं।

की बातें अम्माँ बतलाया करती थीं। इस तरह से संगीत का वातावरण मेरे मन में भरती रहती थीं।

मैं चौदह साल का था कि मेरी नौकरी लग गई। 'संगीत भारती' में ही संगीत सिखाने का काम मिल गया था। पहले ट्रायल बेसिस पर था, फिर पाँच साल वहाँ रहा। वहाँ अपने से बड़े बच्चों को संगीत सिखाता था। कई बार ऐसा भी होता था कि सीखने वालों में माँ और बेटी दोनों होती थीं।

इसके बाद जब 'भारतीय कला केन्द्र' खुला तब मैं इसमें आ गया। वहाँ चाचाजी शम्भु महाराज भी थे। चाचाजी बड़ी क्लास को कथक सिखाते थे, मैं छोटी क्लास को।

बचपन में मैं सीधा-सादा था। शैतानियाँ नहीं करता था। खेलता भी कम ही था। खेल-वेल सब नृत्य में ही शामिल था। हाँ, मैं पतंग खूब उड़ाता था। दोपहर हो, धूप हो, कोई परवाह नहीं। मैं पतंग लिए घर से निकल पड़ता था। इसके कारण अम्माँ की डाँट भी खानी पड़ती थी। माँ से जुड़ी एक बात मुझे याद है। एक बार बम्बई में मिलिट्री वाला ड्रेस खरीदा था। उसको पहने लखनऊ तक चला आया कि अम्माँ को दिखाना है।

स्कूल की बहुत अधिक यादें नहीं हैं। मैं कक्षा छठीं तक ही पढ़ पाया। बाद में चार साल कानपुर में बड़ी बहन के साथ रहा। हाई स्कूल का इम्तिहान भी दिया प्राइवेट से, लेकिन फेल हो गया। अँग्रेज़ी उन दिनों मुझे बड़ी खराब आती थी, इसलिए लुढ़क गया।

छठी कक्षा में ही था कि कबड्डी खेलते समय मेरी एक उँगली टूट गई। अभी तक टेढ़ी है।

गणित के एक शिक्षक मुझे कभी-कभी याद आते हैं। वे संगीत भी सिखाया करते थे – सुबह की प्रार्थना, 'वन्देमातरम्' वगैरह। मैं 'वन्देमातरम्' बहुत अच्छा गाता था। इसे गाकर मैं गणित के सवाल हल करने से बच जाता था।

❖

तसलीमा नसरीन

एक दिन अचानक मैंने कविता लिखी

मेरा जन्म मैमनसिंह (बांग्लादेश) में 25 अगस्त 1962 को हुआ था। मेरे पिता रजब अली डॉक्टर थे। शादी के बाद वे नानाजी के घर के एक हिस्से में रहने लगे थे। खपरैल का वह घर तालाब के किनारे गन्दी-सी गली के भीतर था। उसी मकान में मेरे दो बड़े भाइयों का और फिर मेरा जन्म हुआ। दो बेटों के बाद पिताजी एक बेटी चाहते थे। उनकी इच्छा पूरी हुई।

मेरा जन्म एक बड़े ही पवित्र दिन को हुआ था – बारह रवी उल अव्वल के दिन, जिस दिन नवी जी पैदा हुए थे। नानाजी सुबह ही बाज़ार से एक टोकरी मिठाई ले आए थे। मुझे देखने हाशिम मामा, टूटू मामा, शराफ मामा तो आए ही थे, पवित्र दिन को जन्म होने के कारण पड़ोस के लोग भी आने लगे थे।

थोड़े दिनों बाद माँ मुझे गोद में लेकर सब्ज़ी काटतीं, चूल्हा जलातीं, खाना पकातीं। मैं उनकी गोद में ही सो जाती। वे नहाने जातीं तो मैं आँगन में धूल-मिट्टी और पेशाब पर अकेली बैठी ईंट का टुकड़ा, बालू, मिट्टी, पत्ता मुँह में डालती रहती। दोनों भाई स्कूल से आते तो मुझे गोद में लेकर घूमते। मैं छह महीने की थी जब मुझे कुएँ की मुँडेर पर बैठाकर छोटे भैया अपनी पैन्ट का बटन लगाने लगते। ज़रा-सा झुकते ही मैं कुएँ में गिर सकती थी, इस बात का उन्हें ध्यान ही नहीं रहता।

मेरा नामकरण मेरे बड़े भैया ने किया था। एक बार बड़े मामा, हाशिम मामा, रूनू खाला और झूनू खाला मेरा नामकरण कर रहे थे। कोई मेरा नाम उषा रखना चाहता था तो कोई पंखुरी। कहीं से बड़े भैया मूँगफली

मूँगफली खाते हुए वहाँ आ गए। वे खड़े-खड़े रोने लगे। रूनू खाला ने उनसे पूछा, "क्यों रो रहे हो? किसी ने मारा है?" तो वे बोले, "मेरी बहन का नाम होगा नसरीन!" सभी उनसे पूछने लगे, "यह नाम तुम्हें कहाँ से मिला?" तो वे बोले, "मेरे स्कूल में नसरीन नाम की एक लड़की पढ़ती है।"

बड़े मामा ने कहा, "नहीं, इसका नाम तो उषा ही होगा!" इस पर बड़े भैया ने मूँगफली का ठोंगा फेंक दिया और घर के अन्दर चले गए। वहाँ अपने कपड़ों की गठरी बना ली और घर से बाहर निकल गए। सभी लोग सोच रहे थे कि "वह तालाब तक जाकर लौट आएगा," लेकिन शाम ढलने तक वे नहीं लौटे। अब बड़े मामा, हाशिम मामा और नाना उन्हें ढूँढने निकले। रात के दस बजे हाशिम मामा हाजीवाड़ी के जंगल से उन्हें पकड़ लाए। माँ ने रोते हुए उनसे कहा, "तुम जो कहोगे वही इसका नाम रखा जाएगा।" पिताजी ने भी यही बात कही। मेरी खाला और मामा दुखी हो गए, लेकिन मेरे बड़े भैया ने मेरा नाम रख ही दिया, 'नसरीन जहाँ तसलीमा!' आगे जब मेरा नाम स्कूल में लिखाया गया, तब इसी को थोड़ा बदलकर तसलीमा नसरीन कर दिया गया।

मैं बचपन में खेल खूब खेलती थी। दिन भर शराफ मामा, फेलू मामा, टूटू मामा के पीछे-पीछे दौड़ती रहती। चोर-सिपाही के खेल में छोटी होने के कारण मुझे ही चोर बनना पड़ता। गुल्ली-डण्डा के खेल में भी मुझे ही दौड़ना पड़ता। दूसरे खेलों में भी मुझे ही हारना पड़ता।

मैं छह साल की थी कि एक दिन मुझे एक कुत्ते ने काट लिया। मुहल्ले में एक कुत्ता था। उसका पूरा शरीर घावों से भरा था। लोग उसे ईंट-पत्थर से मारा करते थे। एक दिन मैंने भी उसे पत्थर मार दिया। बस, उसने मुझे काट लिया। पिताजी ने चौदह दिनों तक मेरे पेट में सूई लगाई थी। शराफ मामा मुझे चिढ़ाते थे, "तुम्हें कुत्ते ने काटा है। अब तुम्हारे पेट में पिल्ला हो जाएगा।" उन्होंने कहीं से यह बात सुन ली थी। दरअसल मेरी माँ की दादी जब जीवित थीं, वे कुत्ते के काटने पर केले में कोई चीज़ रखकर लोगों को खिलाती थीं। उनका कहना था कि इस दवा से कुत्ते के काटे का असर खत्म हो जाता है और पेट में पिल्ला नहीं होता। मुझे तो वह दवा नहीं दी

गई, न ही मुझे सात तालाबों का पानी पिलाया गया। इसलिए मुझे डर लगता। मैं बीच-बीच में अपना पेट दबाकर देखती कि पेट में पिल्ला तो नहीं हो गया!

इसी तरह कोई बीज निगल जाने पर शराफ मामा कहते, "तुम्हारे सिर से पेड़ निकलेगा।" मैं हाथ लगाकर देखती कि सिर से कोई पेड़ तो नहीं निकल रहा? किसी से अनजाने में सिर टकराने पर शराफ मामा कहते, "तुम्हारे सिर से सींग निकल आएगा।" वे मुझे दुबारा सिर टकराने को कहते। एक बार किसी से सिर टकराने पर मैंने दुबारा सिर नहीं टकराया। मेरे सिर पर सींग नहीं निकला। शराफ मामा को मैंने यह बात कही तो वे बोले, "आज नहीं तो कल ज़रूर निकलेगा।" लेकिन मेरे सिर पर सींग कभी नहीं निकला।

मेरी पढ़ाई घर में ही शुरू हुई। कुछ ही दिनों में मैं कविताएँ पढ़ना सीख गई। छोटी-छोटी कहानियाँ भी पढ़ने लगी। मेरे बड़े भैया, जो उन दिनों तेरह साल के थे, कभी-कभी मुझे पढ़ाने लगते। उनकी मास्टरी से मुझे घबराहट होती। वे तरह-तरह के सवाल पूछते, "रवीन्द्रनाथ का जन्म कब हुआ था?" "'कंजला दीदी' कविता किसने लिखी है?" "इस शब्द की वर्तनी बतलाओ!" "इस शब्द का अर्थ बतलाओ!" गलत जवाब देने पर वे थप्पड़ भी मार देते। मज़ाक उड़ाते। जिस दिन बड़े भैया मुझे नहीं पढ़ाते, उस दिन मैं मामा लोगों के साथ बैठकर लालटेन में पढ़ती। हम ज़ोर-ज़ोर से पढ़ते ताकि घर के अन्दर बैठे बड़े-बुज़ुर्ग जान सकें कि हम पढ़ रहे हैं। पढ़ते-पढ़ते कभी हम हँसी-मज़ाक करने लगते तो नानी अन्दर से ही चिल्लाकर पूछतीं, "इतनी हँसी क्यों हो रही है?" रात के आठ बजे नानी खाने को बुलातीं तो पढ़ने से छुट्टी मिलती।

नाना ने शराफ मामा, फेलू मामा और मुझे राजवाड़ी स्कूल में भर्ती करा दिया। स्कूल जाने के लिए तीन छाते भी खरीद दिए। सुबह नाश्ता कर हम लोग स्कूल जाते। दोपहर का खाना स्कूल में ही मिलता था। स्कूल की थालियों में से कुछ में फूलों और फलों की तस्वीरें बनी हुई थीं। मैं चाहती

कि मुझे वही थाली मिले। जिस दिन मुझे वह थाली मिलती, मुझे बहुत अच्छा लगता। खाने से ज़्यादा मैं तस्वीरें ही देखा करती।

मेरा स्कूल पहले राजा शशिकान्त का महल रहा था, इसलिए सजा-धजा था। स्कूल जाकर मैं खुद को राजा समझने लगती। जैसे ही कक्षा में जाती, बेवकूफ लड़कियों की जमात में शामिल हो जाती। क्लास में खड़ी होकर कविता सुनाने में मुझे डर महसूस होता। शर्म से मेरा सिर नीचे झुक जाता। मुझे चुपचाप खड़ी देख मास्टर साहब मेरा कान पकड़ते तो क्लास के विद्यार्थी हँस पड़ते। सिर पर डस्टर मारकर मास्टर साहब मुझे पिछली बेंच पर भेज देते। खेल की घण्टी में मैं अकेली राजवाड़ी की सीढ़ियों पर बैठी रहती। मुझे कोई खेल में शामिल नहीं करता था। स्कूल की तरह ही घर में भी मैं अकेलापन महसूस करती। इसलिए अकेले बैठकर लोक कथाओं की किताबें पढ़ती रहती।

1969 में मुझे राजवाड़ी स्कूल से निकालकर विद्यावती स्कूल में डाल दिया गया। वह स्कूल कुछ दूर था। रिक्शे से आना-जाना पड़ता था। इसके लिए पिताजी रोज़ आठ आना दिया करते थे।

पिताजी मुझे हमेशा पढ़ाई पर ध्यान देने को कहते। खेल-खूद, मौज-मस्ती छोड़कर पढ़ने को कहते। उनके हिसाब से पढ़ाई सबसे ज़रूरी चीज़ थी। बड़े भैया का मैट्रिक में खराब रिज़ल्ट होने पर वे बेंत लेकर उनका इन्तज़ार कर रहे थे। आई.एस.सी. में उनकी सेकंड डिवीज़न आने पर पिताजी बहुत दुखी हुए थे। उनकी तमन्ना थी कि बेटा डॉक्टर बने, लेकिन मेडिकल की प्रवेश परीक्षा में वे पास ही नहीं हो पाए। छोटे भैया भी पिता की उम्मीदों पर खरे नहीं उतरे थे, इसलिए उन्होंने अपनी पूरी उम्मीद मुझ पर टिका दी थी।

उस बार स्कूल की तिमाही परीक्षा में अँग्रेज़ी में तैंतीस नम्बर पाकर मैं घर लौटी थी। पिताजी की बेंत मुझे अपने ऊपर पड़ती दिखाई दे रही थी, मगर आश्चर्य कि उन्होंने मारा नहीं। पर उन्होंने इससे भी बड़ी सज़ा दी! वे रोज़ मुझे अँग्रेज़ी पढ़ाने लगे। इससे तो अच्छा था मारकर एक ही बार में चमड़ी

उधेड़ देते! अँग्रेज़ी पढ़ाते वक्त वे मुझे रोज़ बेंत लगाते — जम्हाई आने पर, टेढ़े बैठने पर, याद नहीं होने पर! पढ़ाई के बाद माँ चोट पर मलहम लगातीं और बड़बड़ातीं, "इस तरह मारने से क्या होगा? दिन भर कहानियों की किताबें पढ़ने पर रिज़ल्ट अच्छा कैसे होगा? अब ठीक हुआ न?"

रोज़ रात की मार से डरकर मैं सारा समय अँग्रेज़ी रटने में ही लगाने लगी। उधर होमवर्क नहीं करने पर स्कूल में मुर्गा बनना पड़ता। विज्ञान की क्लास में कान पकड़कर बेंच पर खड़ा रहना पड़ता। किसी क्लास में बगुले की तरह एक टाँग पर कान पकड़कर खड़ा रहना पड़ता। मैं क्लास की बेवकूफ लड़कियों में गिनी जाने लगी। रात की बेंत फिर भी बन्द नहीं हुई। पिता के पूछने पर मैं सारी अँग्रेज़ी भूल जाती।

और इस पढ़ाई का परिणाम यह हुआ कि छमाही परीक्षा में अँग्रेज़ी में मुझे कुल बारह नम्बर मिले! यह नम्बर देखकर पिताजी का रक्तचाप बढ़ गया। उन्हें अस्पताल में भर्ती करना पड़ा। पिताजी के अस्पताल जाते ही हमारा घर मछली बाज़ार बन गया। दिन भर हो-हल्ला, किस्सेबाज़ी, गाना-बजाना। भूगोल की किताबों में छुपाकर पढ़ने के बदले खुलकर कहानियों की किताबें पढ़ना!

पिताजी के अस्पताल से लौटने के बाद घर में फिर से खामोशी छा गई। और जब मुझे पता चला कि मुझे विद्यावती स्कूल की जगह अब एक नए स्कूल रेसीडेंशियल मॉडल स्कूल में जाना है तो मेरे दुख की सीमा नहीं रही। मैंने कहा, "मैं विद्यावती स्कूल छोड़कर नहीं जाना चाहती।" पिताजी ने कहा, "तुम्हारे चाहने से क्या होता है? मैं तुम्हें मॉडल स्कूल में पढ़ाना चाहता हूँ।"

मॉडल स्कूल में प्रवेश के लिए परीक्षा देनी पड़ती थी। परीक्षा में 'एअम इन लाइफ' विषय पर निबन्ध लिखने को दिया गया था। मैंने उस निबन्ध में लिखा था, "मैं इस स्कूल में पढ़ना नहीं चाहती। मेरे पिताजी जबरन मुझे इसमें पढ़ाना चाहते हैं। मैं जहाँ पढ़ती हूँ वह बहुत बढ़िया स्कूल है। मुझे आप इस स्कूल में भर्ती नहीं कीजिए!"

कुछ दिन बाद इस परीक्षा का रिज़ल्ट निकला। मैं पास हो गई थी। मेरी समझ में नहीं आया कि यह कैसे हुआ? मुझे इस नए स्कूल में जाना ही पड़ा, जहाँ मेरा मन बिलकुल नहीं लगता था।

इस स्कूल से एक बार लड़कियाँ पिकनिक पर जा रही थीं। मेरे पिता ने मुझे जाने की अनुमति नहीं दी। मेरी एक सहेली ने मुझे दस रुपए उधार दिए। मैं चुपचाप पिकनिक चली गई। लौटकर आने पर पिता ने मुझे खूब पीटा था।

मुझे बचपन से ही तस्वीरें बनाने का शौक था। मेरा मन करता था कि चित्रकला के किसी स्कूल में भर्ती हो जाऊँ। मैंने बड़े भैया को अपनी इच्छा बतलाई भी। उन्होंने कहा, "पिताजी सुनेंगे तो तुम्हें मार ही डालेंगे।" भैया मुझे चित्र बनाने को प्रोत्साहित करते थे। उन्होंने मेरे बनाए रवीन्द्रनाथ और नज़रूल के चित्र मढ़वाकर अपने कमरे में टाँग लिए थे। किसी के आने पर वे उन चित्रों को दिखलाते और कहते, "मेरी बहन ने बनाए हैं।"

माँ को भी मेरा चित्र बनाना पसन्द नहीं था – खासकर आदमी की तस्वीरें बनाना। वे कहा करतीं, "मनुष्य में जान नहीं डाली जा सकती, इसलिए मनुष्य की तस्वीरें मत बनाया करो। सिर्फ अल्लाह ही मनुष्य में जान डाल सकते हैं।" माँ आदमी और आदमी की तस्वीर का अन्तर समझना ही नहीं चाहती थीं। माँ मुझे अल्लाह की इबादत करने को भी कहतीं। मुझे नमाज़ पढ़ने को कहतीं। उनका कहना था, "नमाज़ पढ़कर अल्लाह से जो माँगोगी, वो तुम्हें देंगे।" एक बार नमाज़ पढ़कर मैंने अल्लाह से कहा, "मुझे दो चमचम देना!" आँखें खोलने पर जब चमचम नहीं मिला तो मैंने माँ से कहा! माँ बोलीं, "तुमने मन से नहीं माँगा, इसलिए नहीं मिला।"

इसके बाद रात को माँ के साथ नमाज़ पढ़ते हुए श्रद्धा से भरकर मैं अल्लाह से चाबी वाली गुड़िया, मिठाई, गुब्बारा वगैरह माँगती रही। लेकिन अल्लाह ने इनमें से कोई भी चीज़ मुझे नहीं दी!

फजली खाला के सम्पर्क में आकर माँ एक पीर साहब के पास जाने लगी थीं। एक पवित्र दिन को जन्म लेने के कारण माँ मुझे भी धर्म-कर्म में

लगाना चाहती थीं, इसलिए एक दिन वे मुझे पीर के यहाँ ले गईं। वहाँ ढेर सारी औरतें थीं। वे पीर की सेवा करती थीं। कोई उन्हें सन्तरे का रस पेश करती, कोई नींबू का शरबत, तो कोई खीर! कोई उन्हें पान लगाकर देती। पान खाकर जब पीर पीक को पीकदान में फेंकने लगते तो कुछ छींटे औरतों के शरीर पर पड़ जाते। औरतें उन्हें चाट जातीं। औरतों में पीकदान से पान के टुकड़े बीनकर खाने की होड़ मच जाती। हुज़ूर की उगली पीक को पीकर वे धन्य होतीं। फजली खाला माँ के कान में कहतीं, "हुज़ूर की पीक ही नहीं, थूक और कफ को प्रसाद के रूप में पाने से पुण्य होता है!"

पीर साहब औरतों को दोज़ख के बारे में बताते, कयामत के बारे में बताते। औरतें दुख से रोने लगतीं।

माँ मुझे अल्लाह के रास्ते चलाना चाहती थीं, लेकिन पिताजी को यह मंज़ूर नहीं था। माँ के साथ मुझे नमाज़ पढ़ते देख एक दिन वे आगबबूला हो गए: "पढ़ाई-लिखाई छोड़कर तुम यह क्या कर रही हो? अल्लाह को पुकारने से वो तुम्हें खाना दे देंगे? पढ़ाई से मुँह मोड़ोगी तो मारकर हड्डी तोड़ दूँगा।"

पिताजी के गुस्साने के बावजूद माँ नमाज़ पढ़वाती रहीं। लेकिन मेरा मन कुरान या नमाज़ में नहीं लगता था। मेरा मन तो कहानियों की किताबों, खेल-कूद या नाच-गाने में लगता था। एक दिन माँ ने मुझे साफ-साफ कह दिया, "तुम्हारी तकदीर में दोज़ख लिखा हुआ है!"

मेरे भैया कविताएँ लिखा करते थे। अपने दोस्तों के साथ मिलकर एक बार उन्होंने एक पत्रिका भी निकाली। उस पत्रिका में उन्होंने मेरे नाम से कविता लिखी। मैं भी चाहती थी कि कविता लिखूँ, लेकिन लिख नहीं पाती थी। भैया की कविताओं की कॉपी निकालकर पढ़ने पर मैं सोचती, "काश! मैं भी कविता लिख पाती!"

स्कूल में मेरी एक सहेली थी। वह भी कविता लिखती थी। मैं उससे कहती, "मुझे भी कविता लिखना सिखा दो!" इस पर वह कहती, "कविता लिखना किसी को सिखाया नहीं जा सकता। बस तुम आसमान की ओर

देखती रहो, तुम्हें रोना आ जाएगा और तुम कविता लिखने लगोगी!"

मैं आसमान की ओर देखती लेकिन मुझे रोना नहीं आता। मैं कविता नहीं लिख पाती!

फिर एक दिन अचानक स्कूल में मैंने एक कविता लिख ली। अपनी सहेली को दिखलाई। फिर रोज़ कविता लिखने लगी। बड़े भैया ने किसी दवा कम्पनी की एक लाल डायरी लाकर मुझे दी थी। मैं उसमें रोज़ दो-तीन कविताएँ लिखने लगी। बड़े भैया उन कविताओं को पढ़ते। किसी को अच्छी कहते, किसी को बहुत अच्छी, तो किसी को गोबर! एक कविता को पढ़कर वे बोले, "अगर अभी मैं पत्रिका निकाल रहा होता तो इसे उसमें छाप देता!"

बड़े भैया कविता और कहानी की गोष्ठी किया करते थे जिसमें काव्य-पाठ और कहानी-पाठ करने वाले भैया और मैं होते थे। श्रोता भी हम दो ही थे। भैया मुझे कविताएँ पढ़ना भी सिखाते थे। हम दोनों गोष्ठी में एक-एक कर कविता या कहानी पढ़ा करते थे। पिताजी के घर आने तक हमारी गोष्ठी चलती रहती थी!

❖

परिचय

ज्यां जाक रूसो (1712-1778)

विश्व प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक, चिन्तक, उपन्यासकार। मनुष्य की स्वतंत्रता के पक्षधर। असमानता के खिलाफ आवाज़ उठाने वाले लेखक। *द सोशल कांट्रेक्ट, एमिली, जूली, कन्फेशन्स* जैसी कृतियों के रचयिता।

फकीर मोहन सेनापति (1843-1918)

ओड़िया के महानतम लेखकों में से एक। आधुनिक ओड़िया गद्य के प्रणेता। मुख्य पुस्तकें: *छ माण आठगुंठ, लछमा, मामू, प्रायश्चित, बोद्धावतार* आदि।

राजा रवि वर्मा (1848-1906)

केरल के सुप्रसिद्ध चित्रकार। चित्रकला के एक सिद्धान्त "प्रिंसिपल ऑफ परस्पेक्टिव" के जनक। पुराणों पर आधारित चित्रों के लिए विख्यात।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर (1861-1941)

विश्वविख्यात बांग्ला साहित्यकार। नोबल पुरस्कार से पुरस्कृत। शान्तिनिकेतन के संस्थापक। रवीन्द्र संगीत के जनक। चित्रकार। प्रसिद्ध कृतियाँ: *गीतांजलि, गोरा* इत्यादि।

मक्सिम गोर्की (1868-1936)

प्रसिद्ध रूसी लेखक। *माँ, मेरा बचपन, मेरे विश्वविद्यालय* जैसी पुस्तकों के रचयिता।

मोहनदास करमचन्द गाँधी (1869-1948)

बापू या महात्मा गाँधी के नाम से लोकप्रिय। भारत में आज़ादी की लड़ाई में प्रमुख भूमिका निभाई। हिन्द स्वराज, माय एक्सपेरिमेंट्स विद ट्रुथ आदि के लेखक।

शरत्चन्द्र (1876-1938)

बांग्ला के प्रसिद्ध लेखक। *देवदास, श्रीकान्त, चरित्रहीन, विप्रदास* जैसे उपन्यास लिखे।

राजेन्द्र प्रसाद (1884-1963)

स्वतंत्रता सेनानी। आज़ाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति। *आत्मकथा, संस्कृत का अध्ययन, इण्डिया डिवाइडेड* आदि पुस्तकों के लेखक।

दत्तात्रेय कालेलकर (1885-1981)

काका कालेलकर के नाम से प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी, समाज सेवी, साहित्यकार। आधुनिक गुजरात के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका। हिन्दी के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान। सांस्कृतिक विषयों पर लेखन। *स्मरण यात्रा, लोकमाता, जीवननो आनन्द* आदि पुस्तकों के रचयिता।

रामानुजन (1887-1920)

पूरा नाम श्रीनिवास आयंगर रामानुजन। तमिलनाडु के निवासी। गणितज्ञ के रूप में विश्व प्रसिद्ध।

चार्ली चैपलिन (1889-1977)

"द किड", "सिटी लाइट्स", "द ग्रेट डिक्टेटर", "द गोल्ड रश" जैसी फिल्मों के विश्व प्रसिद्ध अभिनेता। हास्य-व्यंग्य के ज़रिए गहरे सामाजिक सरोकारों को दिखलाने के लिए जाने जाते हैं।

भीमराव अम्बेडकर (1891-1956)

दलितों के उत्थान में अग्रणी भूमिका निभाई। आज़ाद भारत के संविधान के प्रमुख रचयिता। आदरपूर्वक बाबा साहेब कहलाए।

माओ त्से तुंग (1893-1976)

चीनी राजनेता। चीनी क्रान्ति और चीन में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका।

रामप्रसाद बिस्मिल (1897-1927)

आज़ादी की लड़ाई में शामिल क्रान्तिकारी। काकोरी षड्यंत्र में शामिल होने के कारण अँग्रेज़ों के द्वारा फाँसी की सज़ा।

ज़ाकिर हुसैन (1897-1969)

स्वतंत्रता सेनानी। आगे चलकर भारत के राष्ट्रपति बने। शिक्षा की दिशा में भी काम। जामिया मिलिया इस्लामिया की स्थापना में मुख्य भूमिका।

पाण्डुरंग सदाशिव साने (1899-1950)

साने गुरुजी के नाम से जाने जाने वाले महाराष्ट्र के प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी, दलितों के हितैषी, समाज-सुधारक, लेखक।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' (1900-1967)

हिन्दी के लेखक। मुख्य कृतियाँः *चाकलेट*, *चन्द हसीनों के खतूत*, *दिल्ली का दलाल*, *अपनी खबर* आदि।

जयप्रकाश नारायण (1902-1979)

स्वतंत्रता सेनानी। 1942 के आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका। आज़ादी के बाद देश की राजनीति में सक्रिय। सम्पूर्ण क्रान्ति का आह्वान करने वाले नेता।

रामवृक्ष बेनीपुरी (1902-1968)

हिन्दी साहित्यकार। आज़ादी की लड़ाई में शामिल। *तरुण भारत*, *बालक*, *युवक*, *नई धारा* आदि पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक। *माटी की मूरतें*, *पतितों के देश में*, *गेहूँ और गुलाब* आदि पुस्तकों के रचयिता।

लाल बहादुर शास्त्री (1904-1966)

स्वतंत्रता सेनानी। भारत के दूसरे प्रधानमंत्री।

अशोक कुमार (1911-2001)

हिन्दी फिल्मों के प्रसिद्ध अभिनेता। "अछूत कन्या", "चित्रलेखा", "बन्दिनी" आदि फिल्मों में अभिनय।

विष्णु प्रभाकर (1912-2009)

हिन्दी के जानेमाने लेखक। शरत्चन्द्र की जीवनी *आवारा मसीहा* के लेखक के रूप में विख्यात। अन्य पुस्तकेंः *आदि और अन्त*, *स्वप्नमयी*, *डॉक्टर*, *प्रकाश और परछाइयाँ*, *अर्द्ध नारीश्वर* आदि।

मलका पुखराज (1912-2004)

"अभी तो मैं जवान हूँ" जैसे चर्चित गीत की गायिका। नौ साल की उम्र में ही जम्मू-कश्मीर रियासत की दरबारी गायिका बन गई थीं।

इन्दिरा गाँधी (1917-1984)

बचपन में आज़ादी के संघर्ष में शामिल। आगे भारत की पहली महिला प्रधानमंत्री बनीं।

ए.के. हंगल (1917)

पूरा नाम अवतार किशन हंगल। हिन्दी फिल्मों के चरित्र अभिनेता। दर्ज़ी का काम करते हुए इप्टा से जुड़ाव। बाद में फिल्मों में प्रवेश।

अमृता प्रीतम (1919-2005)

पंजाबी की विख्यात कवि। ज्ञानपीठ पुरस्कार से पुरस्कृत। *पिंजर*, *ना राधा ना रुकमणि*, *अलिफ लैलाः हज़ार दास्तान*, *रसीदी टिकट* आदि पुस्तकों की लेखक।

ए.पी.जे. अब्दुल कलाम (1931)

प्रसिद्ध वैज्ञानिक। भारत के पूर्व राष्ट्रपति। *विंग्स ऑफ फायर* के लेखक।

बृजमोहन मिश्र (1938)

लखनऊ घराने के जानेमाने कथक नर्तक बिरजु महाराज। देश-विदेश में अनेक प्रस्तुतियाँ व शिष्य।

तसलीमा नसरीन (1962)

बांग्लादेश की मूल निवासी। बहुचर्चित बांग्ला लेखिका। कृतियाँ - *लज्जा*, *औरत के हक में*, *मेरे बचपन के दिन* आदि।

एकलव्य

एकलव्य एक स्वैच्छिक संस्था है जो पिछले कई वर्षों से शिक्षा एवं जनविज्ञान के क्षेत्र में काम कर रही है। एकलव्य की गतिविधियाँ स्कूल में व स्कूल के बाहर दोनों क्षेत्रों में हैं।

एकलव्य का मुख्य उद्देश्य ऐसी शिक्षा का विकास करना है जो बच्चे से व उसके पर्यावरण से जुड़ी हो; जो खेल, गतिविधि व सृजनात्मक पहलुओं पर आधारित हो। अपने काम के दौरान हमने पाया है कि स्कूली प्रयास तभी सार्थक हो सकते हैं जब बच्चों को स्कूली समय के बाद, स्कूल से बाहर और घर में भी, रचनात्मक गतिविधियों के साधन उपलब्ध हों। किताबें तथा पत्रिकाएँ इन साधनों का एक अहम हिस्सा हैं।

पिछले कुछ वर्षों में हमने अपने काम का विस्तार प्रकाशन के क्षेत्र में भी किया है। बच्चों की पत्रिका *चकमक* के अलावा *स्रोत* (विज्ञान एवं टेक्नॉलॉजी फीचर्स) तथा *शैक्षणिक संदर्भ* (शैक्षिक पत्रिका) हमारे नियमित प्रकाशन हैं। शिक्षा, जनविज्ञान एवं बच्चों के लिए सृजनात्मक गतिविधियों के अलावा विकास के व्यापक मुद्दों से जुड़ी किताबें, पुस्तिकाएँ, सामग्रियाँ आदि भी एकलव्य ने विकसित एवं प्रकाशित की हैं।

वर्तमान में एकलव्य मध्य प्रदेश में भोपाल, होशंगाबाद, पिपरिया, हरदा, देवास, इन्दौर, उज्जैन, शाहपुर (बैतूल) व परासिया (छिन्दवाड़ा) में स्थित कार्यालयों के माध्यम से कार्यरत है।

इस किताब की सामग्री एवं सज्जा पर आपके सुझावों का स्वागत है। इससे आगामी किताबों को अधिक आकर्षक, रुचिकर एवं उपयोगी बनाने में हमें मदद मिलेगी।

सम्पर्क: books@eklavya.in

ई-10, शंकर नगर, बीडीए कॉलोनी, शिवाजी नगर, भोपाल - 462016

संजीव ठाकुर: जन्म: 29 जनवरी 1967 (बिहार)। आरम्भिक शिक्षा गाँव के स्कूल में, फिर अविभाजित बिहार के मशहूर स्कूल नेतरहाट विद्यालय में। दिल्ली विश्वविद्यालय से बी.ए., एम.ए., एम.फिल. और पीएच.डी.।

पत्र-पत्रिकाओं में विभिन्न विधाओं में लेखन। बच्चों के लिए तथा शास्त्रीय संगीत पर भी लगातार लेखन।

नौटंकी जा रही है और *फ्रीलांस ज़िन्दगी* कहानी-संग्रह और *झौआ बैहार* लघु उपन्यास प्रकाशित। बच्चों के लिए भी कुछ पुस्तकें प्रकाशित। करीब आठ साल एक कॉलेज में अध्यापन के बाद इन दिनों स्वतंत्र लेखन एवं पत्रकारिता।

दिलीप चिंचालकर शिक्षा से बॉयोकेमिस्ट, पर आन्तरिक प्रेरणा से लेखक। वे इलस्ट्रेटर व डिज़ाइनर होने के साथ ही शिक्षक, चित्रकार, बागबान, ट्रक ड्राइवर और हिचहाइकर भी हैं।

जितेन्द्र ठाकुर भोपाल में रहते हैं व एकलव्य में कार्यरत हैं। उन्हें बच्चों के लिए चित्रकारी करना बहुत प्रिय है। वे प्रकृति के सौन्दर्य को अपने रंगों के ज़रिए महसूस करने का प्रयास करते हैं।